शब्द व्यापार विचार

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी ● कु० इन्दु अवस्थी

इन्दु प्रकाशन दिल्ली-७

राजानक मम्मटकृत

शब्दव्यापारविचार

सम्पादन एवं व्याख्या

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

कु० इन्दु अवस्थी

इन्दु प्रकाशन

८/३ रूपनगर, दिल्ली

११०००७

© इन्दु प्रकाशन

८/३ रूपनगर

दिल्ली–७

•

१९७७

•

पृष्ठ संख्या ८+५८

•

25/-

मूल्य [redacted] रुपये

पच्चीस रुपये

•

मुद्रक

शुभचिन्तक प्रेस

३१३, बस्की खुर्द, दारागंज

इलाहाबाद

शब्दव्यापारविचार

SHABDA-VYAPARA-VICHAR

भूमिका

अर्थविज्ञानविषयक प्राचीन भारतीय साहित्य को प्रस्तुत करने के सन्दर्भ में वृत्तिसमुच्चय की योजना में मीमांसा न्याय व्याकरण एवं साहित्यशास्त्र से शब्द-शक्तिविषयक सामग्री प्रस्तुत करने का संकल्प लेकर एतद्विषयक लघु ग्रन्थ प्रथम भाग में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इन ग्रन्थो में से मुकुलभट्टकृत अभिधावृत्तमातृका, मम्मटकृत शब्दव्यापारविचार, अप्पयदीक्षितकृत वृत्तिवार्तिक आशाधरभट्टकृत कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका तथा मौनिकृष्णभट्टकृत वृत्तिदीपिका की जानकारी अब तक हमें हो पायी है, जिनमें अभिधा लक्षणा एवं व्यंजना व्यापारों में दो या तीन का विवेचन हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद का विवेचन करने वाले शालिकनाथकृत वाक्यार्थवृत्तिमातृका वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्वबिन्दु पार्थसारथिमिश्रकृत वाक्यार्थनिर्णय की जानकारी हमें हो सकी है, जिन्हें यथाशीघ्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

इन ग्रन्थों में प्रत्येक का अपना एक विशेष महत्व है। इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा करना उचित न होगा। मेरे विचार से तो इन समस्त ग्रन्थों को समष्टि रूप से देखने से ही शब्द शक्ति विषयक विवेचन पूर्ण हो सकता है।

भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जब अर्थविज्ञान का एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में अध्ययन किया जा रहा हो, उस समय शब्दव्यापार अथवा वाक्यार्थविचार विषयक ग्रन्थों का स्वतन्त्र रूप से प्रकाशन नितान्त आवश्यक रहा है, जिससे भाषा विज्ञान के आधुनिक विद्वानों को प्राचीन चिन्तन की जानकारी सुविधापूर्वक हो सके। इसे ही ध्यान में रखकर मम्मटकृत इस लघु ग्रन्थ का वृत्तिसमुच्चय में संकलन करते हुए अनुवाद पूर्वक स्वतन्त्र प्रकाशन का संकल्प किया गया है। यदि इससे विद्वान अध्येताओं को अर्थविज्ञान के अध्ययन में कुछ सुविधा हो सके तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

—ब्रह्ममित्र अवस्थी

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद—२

शब्दव्यापारविचार-कारिकाः

जातिः क्रिया गुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः ।
तद्बाधे रूढितोऽर्थाद्वा लक्षणीयस्तदन्वितः ॥१॥

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्व समर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धेव सा द्विधा ॥२॥

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका ॥३॥

भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥४॥

निरूढा काचनान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा ।
उक्तान्वये च सा पश्चात् अन्वितोक्तौ पुनः पुरः ॥५॥

द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थो नास्ति सत्यतः ॥६॥

प्रज्ञानैर्मल्यवैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुजः ।
अभिधालक्षणायोगी व्यंग्योऽर्थः प्रथितोध्वनेः ॥७॥

—:•:—

प्रकाशकीय

शब्दशक्ति के सम्बन्ध में विचार करने वाले प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों को अथवा इस विषय के विवेचन को विद्वान् पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने की डा० अवस्थी की योजना के अन्तर्गत इससे पूर्व अभिधावृत्तमातृका एवं वृत्तिवार्तिक आपकी सेवा में प्रस्तुत हो चुके हैं। मम्मट कृत शब्दव्यापार विचार आपके हाथ में है। प्रेस की शिथिलता के कारण जो कार्य बहुत पहले होना चाहिए था, वह विलम्ब से हो रहा है इसका मुझे खेद है; तथापि हमें विश्वास है कि विलम्ब पर ध्यान दिये बिना, विद्वज्जन हमारे इस प्रयास का स्वागत करेंगे। इसी योजना के अन्तर्गत आशाधरभट्टकृत कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका, मौनिकृष्णभट्टकृत वृत्तिदीपिका एवं वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्वविन्दु, शालिकनाथकृत वाक्यार्थमातृकावृत्ति यथाशीघ्र आपकी सेवा में पहुँच सकें ऐसा हमारा प्रयास है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को वर्तमान रूप देने का श्रेय शुभचिन्तक प्रेस के स्वामी श्री अतिबल गिरि को है। मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ। साथ ही इस ग्रन्थ सम्पादक एवं व्याख्याकार डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी एवं कु० इन्दु अवस्थी एम० ए० की अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने हमें अपने इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन में न केवल सहयोग प्रदान किया है, अपितु अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन में भी समय निकाल कर प्रूफ संशोधन आदि में भी सहयोग करके इसे यथासम्भव शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने में हमारी सहायता की है।

ज्येष्ठ पूर्णिमा सं० २०३४ वि०

सुशीला शास्त्री

विषय-सूची

भूमिका ७

मुख्य ग्रन्थ

अभिधा व्यापार १

संकेत २

लक्षणा व्यापार ५

लक्षणा के प्रकार ६

व्यञ्जना व्यापार २८

व्यञ्जना के भेद ३०

गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण ३१

व्यञ्जना की आवश्यकता ३२

परिशिष्ट

उद्धरणसूची ४०

व्यञ्जना व्यापार ४१

वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया ४१

लक्षणा या गुणवृत्ति ४२

व्यञ्जना वृत्ति की प्राचीनता ४२

व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता ४३

मम्मट का स्थिति काल ५२

मम्मट की रचनाएँ ५७

शब्द व्यापार विचार का महत्व ५८

अथ शब्दव्यापारविचारः

अभिधा

इह हेयोपादेयानां हानोपादाने प्रमाणादेव, तच्च निश्चयात्मतया प्रामाण्यं-भजते। निश्चयश्च शब्दसाहित्येनार्थं विषयीकरोति। शब्दस्य चार्थप्रतीति-प्रतिपत्तिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्त्या कारकत्वात् कल्पमानो व्यापारोऽभिधादि-शब्दप्रतिपाद्यो नानाप्रकार इति तत्परीक्षार्थं शब्दव्यापारविचारात्मकं प्रकरणमि-दमारभ्यते। व्यापारश्च शृङ्गग्राहिकया दर्शयितुं न युज्यते इति विषयमुखेन प्रदर्श्यते—

काव्य प्रकाश—इहागृहीतसंकेतस्य शब्दादर्थविशेषप्रतिपत्तेरभावात् संकेत-सहायएव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।।

क्योंकि लोकव्यवहार में हेय (त्यागयोग्य) और उपादेय (ग्रहणयोग्य) पदार्थों अथवा कार्यों का त्याग और ग्रहण प्रमाणों द्वारा ही होता है। प्रमाणों की प्रामाणिकता तभी होती है, जब वे निश्चयात्मक हों अर्थात् निश्चय पर पहुँचाने वाले हों। निश्चय शब्दों की सहायता से अर्थ विषयक हुआ करता है। क्योंकि निश्चयरूप अर्थप्रतीति कार्य है, और शब्द उसका कारण है, तथा कारण से कार्य को उत्पत्ति व्यापार के बिना सम्भव नहीं है, अतः शब्द के व्यापारों की कल्पना की जातो है, शब्द का कल्पित व्यापार, जिसका अभिधा आदि शब्दों से कथन किया जाता है, अनेक प्रकार का है। शब्दगत उन व्यापारों की परीक्षा के लिए 'शब्दव्यापारविचार' नामक इस प्रकरण ग्रन्थ का आरम्भ किया जा रहा है। क्योंकि शब्दगत व्यापारों का परिचय 'शृङ्गग्राहिकया'[१] अर्थात् यह अमुक व्यापार है, यह अमुक व्यापार है, ऐसा प्रत्यक्षतः नहीं कराया जा सकता, अतः विषयमुख से अर्थात् उदाहरण के माध्यम ने उनका परिचय दिया जा रहा है।

---

१. जिस प्रकार गौ आदि के सींग को छूकर संकेत करते हुए परिचय दिया जा सकता है, कि यह सींग है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष वस्तु को दिखाकर उसका परिचय कराना 'शृङ्ग-ग्राहिका' न्याय कहा जाता है।

जातिः क्रिया गुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः ।

अगृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति। तेन समितः संकेतितो ध्वनिः शब्दो यत्र सोऽर्थः। पूर्वमुपलभ्य-त्वान्न तु विश्रान्तिधामत्वान्मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्योऽभिधेयोऽर्थः। तथा चाह-जातिरित्यादि। इह यद्यपि प्रवृत्तिनिवृत्तिविषया व्यक्तिरेव, तथाप्यानन्त्याद्-व्यभिचाराच्च तत्र तत्र संकेतः कर्त्तुं न पार्थत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनामेकार्थत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति च शब्दानामुपाधावेव संकेतः।

का० प्र० संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्याव्यक्तिरेव, तथाप्यानन्त्याद्-व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्त्तुं न युज्यते इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां शब्दानां विषयविभागो न प्राप्नोति इति च तदुपाधावेव संकेतः।

(कारिका) जाति क्रिया गुण और संज्ञायें वाच्य अर्थ हैं, तथा इनके बोधक संकेतयुक्त ध्वनि शब्द (वाचक शब्द) हैं।

(वृत्ति) क्योंकि संकेत ग्रहण के बिना शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः यह सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया जाता है कि ध्वनि अर्थात् शब्द का जिस अर्थ में संकेत है, वह उसका अर्थ है। शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को मुख्य अर्थ कहते हैं। उसे मुख्य अर्थ केवल इसलिए कहा जाता है कि वह सर्वप्रथम प्रतीत होता है, इसलिए नहीं कि शब्द की उस अर्थ में ही विश्रान्ति होती हैं। इस मुख्य (-सिद्ध) अर्थ को ही वाच्य अर्थ और अभिधेय अर्थ भी कहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि 'जाति आदि वाच्य अर्थ है।' लोक व्यवहार में यद्यपि प्रयोग और परिहार (ग्रहण और त्याग) का विषय व्यक्ति (Individual) होता है, तथापि व्यक्ति में संकेत ग्रहण मानने पर अनन्त व्यक्तियों में अनन्त संकेतों की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार आनन्त्य दोष, तथा गौ घोड़ा पुस्तक आदि से परिचित व्यक्ति को पहले से न देखे हुए गौ, घोड़ा और पुस्तक का भी निश्चयपूर्वक बोध अर्थात् यह गौ आदि है, ऐसा ज्ञान होता है, इस प्रकार यहां व्यभिचार दोष उपस्थित होता है, अतः व्यक्ति में संकेत नहीं स्वीकार किया जा सकता। साथ ही (डित्थनामक श्वेत गौ के चलने पर) गो शुक्ल चल (गतिशील) एवं डित्थ पद एकार्थक है, ऐसा भ्रामक बोध न हो, अतः इन शब्दों का जाति गुण आदि उपाधियों में ही संकेत स्वीकार किया जाता है।

उपाधिश्च वस्तुधर्मोवक्तृयदृच्छा सन्निवेशितश्च। आद्यः सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। आद्यो जातिः उक्तं हि वाक्यपदोये—"गौर्हि स्वरूपेण न गौः, नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तुगौः" इति। द्वितोयो गुणः शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तुविशेष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदिच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधितया संनिवेश्यते इति च संज्ञारूपो यदृच्छयात्मक इति। गौः शुक्लश्चलो डित्थइत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्भाष्ये कथिता। परमाणुत्वाद्दोना तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्।

का० प्र० उपाधिश्च द्विविधः वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मश्च द्विविधः सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। आद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदोये—'गौःस्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः' इति। द्वितीयो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशेष्यते। साध्यःपूर्वापरोभूतावयवःक्रियारूपः। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति संज्ञारूपो यदृच्छात्मकः। गौः शुक्लः चलो डित्थ इति 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरितिमहाभाष्यकारः'। परमाणुत्वादीनां तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्।

यह उपाधि वस्तु का धर्म भी हो सकता है और वक्ता द्वारा स्वेच्छापूर्वक आरोपित भी। प्रथम अर्थात् वस्तुधर्मरूप उपाधि दो प्रकार का है—सिद्ध और साध्य। सिद्ध उपाधि पुनः दो प्रकार का है–पदार्थ में प्राणप्रद अर्थात् उसकी सत्ता का हेतु और उसमें वैशिष्ट्य का आधान करने वाला। प्रथम अर्थात् प्राणप्रद (स्वरूपाधायक) उपाधि जाति है। वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने भी कहा है—गौ स्वरूपतः गौ नहीं होती और न वह अगौ अर्थात् गो भिन्न होती है, अपितु गोत्व से सम्बद्ध अर्थात् समवाय सम्बन्ध से गोत्व से सम्बद्ध होने के कारण ही उसे गो कहते हैं। द्वितीय उपाधि शुक्लत्व आदि गुण हैं। इनके द्वारा सत्ता (स्वरूप) को प्राप्त वस्तु में विशेषता आती है, अर्थात् वह अन्य समान जातीय पदार्थ से भिन्न हो जाता है। साध्य उपाधि क्रियारूप होती है, यह पूर्व और पररूप अवयवों से युक्त होती है। डित्थ आदि शब्द, जो एक निश्चित क्रम में वर्णों का समूह है, तथा जिसे अन्त्य अर्थात् मूर्खजनों की बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाता है, डित्थ आदि अर्थों में उपाधि के रूप में वक्ता द्वारा आरोपित कर लिया जाता है। यह संज्ञारूप उपाधि यदृच्छारूप है। इसीलिए 'गौः (जाति) चलना (क्रिया) शुक्ल (गुण) और डित्थ (संज्ञा) इत्यादि में शब्दों

का चार प्रकार से व्यवहार होता है' ऐसा महाभाष्य [ऋलृक् सूत्र भाष्य पृ० १०१] में कहा है। परमाणुत्व आदि उपाधियों में (द्रव्यरूप होते हुए भी) पारिभाषिक गुणत्व रहता है, क्योंकि उनका परिगणन गुणों के मध्य ही किया जाता है।[1]

ननु पयःशंखाद्याश्रयीभूतेषु शुक्लादिगुणेषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नावभिधानप्रत्ययौ स्तः तच्छुक्लत्वादिसामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकेषु एवमेव पाकत्वादिकम्। शुकसारिकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च डित्थादिशब्दत्वं, प्रतिक्षणं भिद्यमाने वा डित्थाद्यर्थे डित्थादिकत्वमस्तीति कथं चतुष्टयीशब्दानां प्रतीतिः ? उच्यते--संस्थान-अवस्थान-प्रमाण-वर्णैः भेदेऽपि व्यक्तीनां शाबलेयो गौःधावलेयो गौरित्याद्येकप्रत्ययहेतुत्वं जातेरेव। हंसहारादीनां घृतगुडादीनां शुकसारिकाद्युदीरितडित्थादिशब्दानां नानावस्थडित्थाद्यर्थानां च भेदेऽपि हंसः शुक्लः, हारः शुक्लः; घृतं पच्यते, गुडं पच्यते; डित्थ शब्दो डित्थशब्दः, डित्थो डित्थ इत्येकाकारावगतिनिबन्धनत्वादेकरूपत्वमेव गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासां भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुर्जातिर्घटते इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि।

का० प्र० गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामपि आश्रयभेदादभेद इव लक्ष्यते। यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्। हिमपयःशंखाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिसन्ततिस्तत् शुक्लत्वादिसामान्यम्। गुडतण्डुलादि पाकादिषु एवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।

इस प्रसङ्ग में प्रश्न हो सकता है कि दूध शंख आदि श्वेतिमा के आश्रयभूत पदार्थों में जिस कारण 'यह शुक्ल हैं, यह भी शुक्ल है' ऐसा कथन और ज्ञान होता है (यद्यपि दोनों के वर्ण में भेद है) वह शुक्लत्व आदि जाति ही है। इसी प्रकार गुड़ चावल इत्यादि की पाक आदि क्रियाओं में परस्पर भेद होते हुए भी जिस कारण एक ही पाकक्रिया से उनका अभिधान और बोध होता है, वह पाकत्व आदि जाति ही है। इसी भांति शुक (तोता) सारिका (मैना) बालक और वृद्ध आदि द्वारा उच्चारण किये गये गये डित्थ आदि शब्दों में भेद होते हुए भी यह एक ही डित्थ शब्द है, ऐसा अभिधान और बोध होता है, तथा प्रतिक्षण परिवर्त्तन के कारण परस्पर भिन्न डित्थ आदि

---

१. देखिये अभिधावृत्तमातृका पृ० ८-९

अर्थों में यह डित्थ पदार्थ है ऐसा अभिधान और ज्ञान होता है, वहां भी डित्थत्व आदि सामान्य ही हेतु है। अतः शब्दों की प्रतीति चार प्रकार की है यह कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि संस्थान (अवयवों की स्थिति), अवस्थान (स्वरूप) प्रमाण और वर्ण (रंगों) के अनुसार व्यक्तियों में परस्पर भेद होते हुए भी 'यह चितकबरी गौ है, यह सफेद गौ है' इत्यादि प्रकार से परस्पर भिन्न गौओं में जो एकता की प्रतीति होती है, उसका हेतु जाति ही है, इसीप्रकार हंस हार आदि, घृत-गुड़ आदि, और शुक सारिका आदि द्वारा उच्चारण किये गये डित्थ आदि शब्दों तथा विविध अवस्था वाले डित्थ आदि अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी हंस सफेद है, हार सफेद है, घृत पक रहा है; गुड़ पक रहा है; यह डित्थ शब्द है; यह भी डित्थ शब्द है, यह डित्थ वस्तु है और वह भी डित्थ वस्तु है, इत्यादि में एकाकार प्रतीति होने से इन गुण क्रिया यदृच्छा शब्दों एवं अर्थों में एकरूपता अवश्य है, तथापि इन भिन्न पदार्थों में अभेद प्रत्यय का कारण एक मात्र जाति है, ऐसा प्रमाणित नहीं होता है। इस प्रकार 'शब्दों की अर्थों की प्रवृत्ति के कारण चार ही हैं, यह मानना ही चाहिए।

लक्षणा

अपरमाह

तद् बाधे रूढितोऽर्थाद् वा लक्षणीयस्तदन्वितः ॥१॥

शब्दे कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात् गङ्गायां घोष इत्यादौ च गंगादीनां च घोषाधिकरणताऽसम्भवात् मुख्यार्थस्य बाधः, रूढितः प्रसिद्धे तथा गङ्गातट इत्यादेः येषां न तथा प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां तथा प्रतिपादनात्मना प्रयोजनेन। तेन मुख्येनार्थेनान्वितो लक्षणीयो लक्षणाव्यापारगोचरः। सम्बन्धश्चात्र विवेकत्वादिः सामीप्यादिश्च। एवं वाच्यवाचकार्थनिष्ठौ व्यापारावभिधालक्षणे।

का० प्र० मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥२.४॥

कर्मणिकुशलः इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् गंगायां घोष इत्यादौ च गंगादीनां घोषाद्यधिकरणत्वासम्भवाद् मुख्यार्थस्य बाधे, विवेचकत्वादौ सामीप्यादौ च सम्बन्धे रूढितः प्रसिद्धेः, तथा गंगातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां तथा न प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च, मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

अभिधा व्यापार से भिन्न अन्य व्यापार का वर्णन ग्रन्थकार अग्रिम पंक्तियों में करते हैं।

का० मुख्य अर्थ के बाधित होने पर रूढिवश अथवा प्रयोजनवश लक्षणीय अर्थ की प्रतीत होती है, अर्थात् उस प्रतीत होने वाले अर्थ को लक्षणीय अर्थ कहते है।

'कुशल', इत्यादि शब्दों के प्रयोग स्थलों में, कुश ग्रहण करना' आदि अर्थों की संगति न होने से, तथा 'गंगा में घोष है' इत्यादि वाक्यों में गंगा पद के मुख्य अर्थ प्रवाह में घोष (अहीरों के ग्राम) के अधिकरण (आश्रय) हो सकने की सम्भावना न होने के कारण मुख्य अर्थ वाक्यार्थ में बाधित होता है। ऐसी स्थिति में रूढि के कारण प्रसिद्ध तथा 'गंगातट' पर कहने से जिन अर्थों का बोध नहीं हो सकता उन पावनता आदि अर्थों के प्रतिपादनरूप प्रोजन के कारण, उस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध लक्ष्य अर्थात् लक्षणा व्यापार द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ का बोध होता है। इन स्थलों में मुख्य और लक्षणीय अर्थों के बीच विवेचकत्व तथा सामीप्य आदि सम्बन्ध विद्यमान है, यहां वाच्य-अर्थ वाचक-पद एवं अर्थ (लक्ष्य-अर्थ) के बीच अभिधा और लक्षणा व्यापार है।

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥२॥

कुन्तान्प्रवेशय यष्टीः प्रवेशयेत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्धये स्वसंयोगिनः पुरुषाः आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेनेयं लक्षणा। 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। न तु शब्देनोच्यते। 'विशेष्यं नाभिधागच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायादुपादान-

लक्षणा नोदाहर्त्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिः। व्यक्त्यविनाभावात् जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, यथा क्रियतामित्यत्र कर्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डोमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। 'पोनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्। 'गंगायां घोषः' इत्यत्र घोषाधिकरणतायाः सिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयतीत्येवमादौ लक्षणणेनैषा लक्षणा।

का० प्र० स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥५॥

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेनेयं लक्षणा। 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायादुपादानलक्षणा नोदाहर्त्तव्या। नह्यत्र प्रयोजनमस्ति, न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। यथा क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, 'प्रविश' 'पिण्डो' मित्यादौ 'गृहं' 'भक्षय' इत्यादि च। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेर्दृष्टार्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

'गंगायां घोषः' इत्यत्र तटस्य घोषाद्यधिकरणतासिद्धये गंगा शब्दः स्वार्थमर्पयति; इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा।

का० लक्षणा व्यापार में दो स्थितियां होती है—एक वह 'जहां मुख्य अर्थ की वाक्यार्थ में संगति के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है', और दूसरी वह 'जहां मुख्य अर्थ स्वयं को समर्पित कर देता है।' इन स्थितियों में प्रथम को उपादान लक्षणा और द्वितीय को लक्षणलक्षणा कहते हैं। इस प्रकार शुद्धा लक्षणा के दो प्रकार होते हैं।

'भालों को प्रवेश करने दो' 'लाठियों को प्रवेश करने दो' इत्यादि वाक्यों में भाले (कुन्त) और लाठियां (यष्टि) आदि पदार्थों से संयुक्त पुरुषों का आक्षेप होता है। इस प्रकार उपादान अर्थात् अन्य अर्थ के ग्रहण करने के कारण यह लक्षणा उपादान लक्षणा कही जाती है। 'गौरनुबन्ध्या' अर्थात् 'गौ का अनुबन्धन करो'

इत्यादि वाक्यों के अवसरों पर श्रुति प्रतिपादित अनुबन्धन गोपदवाच्य अर्थ गो-जाति में सम्भव नहीं है, यहां वाक्यार्थ में संगति कैसे हो, अर्थात् श्रुति प्रतिपादित गोविषयक अनुबन्धनक्रिया कैसे सम्पन्न की जाए, इसके लिए गो पद के मुख्य अर्थ गो-जाति से गो व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है; न कि शब्द द्वारा उसका कथन किया जाता है। इस प्रकार के स्थलों में जातिरूप विशेषण-अर्थ का बोध कराने से क्षीण शक्ति वाली अभिधा विशेष्य अर्थात् जाति से युक्त व्यक्तिरूप अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकती है, इस न्याय (सिद्धान्त) को प्रमाण मानकर यह उपादानलक्षणा है (ये प्रयोग उपादान लक्षणा के उदाहरण है) ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसे प्रयोगों में न तो प्रयोजन है और न रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि ही है। बल्कि ऐसे स्थलों में अविनाभावसम्बन्ध के कारण अर्थात् जाति की स्थिति व्यक्ति के बिना सम्भव ही नहीं है, अर्थात् व्यक्ति के बिना जाति से क्रियासम्पादन की सम्भावना ही नहीं है, अतः जाति से व्यक्ति का आक्षेप ठीक उसी प्रकार कर लिया जाता है, जिस प्रकार 'क्रियताम्' (कियाजाए) कहने पर कर्त्ता का, 'कुरु' (करो) कहने पर कर्म का, 'प्रविश' (अन्दरजाओ) कहने पर घर का तथा 'पिण्डीम्' (रोटियों को) कहने पर 'खाओ' इत्यादि का आक्षेप होता है। इसी प्रकार 'मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता इत्यादि स्थलों पर रात्रि भोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती। रात्रि भोजन की प्रतीति श्रुत-अर्थापत्ति अथवा अर्थापत्ति के द्वारा होती है। 'गंगा में अहीर ग्राम है' इत्यादि वाक्यों में अहीरों के गाँव का आधार गंगा पद से प्रतीत होने वाला अर्थ हो सके. इसके लिए गंगा शब्द अपने अर्थ को अर्पित कर देता है। इस प्रकार के स्थलों में स्व-अर्थ का अर्पण किये जाने के कारण यहां लक्षण लक्षणा मानी जाती है।

उभयरूपाचेयं शुद्धा, उपचारेणामिश्रत्वात्। अनयोर्भेदयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं तटस्थत्वम्। तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्व-प्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोषः इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

का० प्र० उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रत्वात्। अनयोर्भेदयो-लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां गंगादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषित प्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्र-प्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष' इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

लक्षणा के इन दोनों प्रकारों उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा को शुद्धा लक्षणा कहा जाता है, क्योंकि यहां उपचार का मिश्रण नहीं रहता। इन दोनों ही

लक्षणा के भेदों में लक्ष्य अर्थ एवं लक्षक अर्थ के बीच भेदरूप तटस्थता नहीं रहती। उपर्युक्त उदाहरण में गंगा आदि के द्वारा तट आदि अर्थों की प्रतीति कराने में वाक्यार्थ बोध होने पर जिस प्रयोजन का प्रतिपादन अभीष्ट था उस (पावनत्व) की आदि की प्रतीतिरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। यहां घोष (अहीरों के ग्राम) के साथ गंगा के सम्बन्धमात्र की प्रतीति को प्रयोजन मानने पर उस सम्बन्ध की प्रतीति अभिधा के माध्यम से 'गंगा तटे घोषः' कहने पर भी हो सकती थी। अतः अभिधा और लक्षणा के प्रयोग में अन्तर ही क्या रहेगा ? अतः सम्बन्धमात्र की प्रतीति यहां लक्षणा का प्रयोजन नहीं है।

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

आरोप्यमाण आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्यते सा लक्षणा सारोपा।

(का० प्र०) सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा।

जब लक्षणाव्यापारविशिष्ट वाक्य में विषय और विषयी दोनों का कथन हो तो उस वाक्य में स्थित लक्षणा को सारोपा कहते हैं।

जहाँ आरोप्यमाण (विषयी) और आरोपविषय (विषय) के मध्य में परस्पर विद्यमान भेद का अपह्नव किये बिना समान विभक्ति में उनका निर्देश किया जाए तो वहाँ विद्यमान लक्षणा को सारोपा लक्षणा कहते हैं।

विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका।

विषयिणारोप्यमाणेनान्तः कृते निगीर्णेऽन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना।

का० प्र० विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका ॥६॥

विषयिणारोप्यमाणेनान्तः कृते निगीर्णे अन्यस्मिन् आरोपविषये सति सा साध्यवसानिका स्यात्।

जहाँ विषयी अन्य अर्थात् विषय को स्वयं में निगीर्ण कर ले तो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। विषयी अर्थात् आरोप्यमाण के द्वारा जहाँ अन्य अर्थात्

आरोपविषय का निगरण कर लिया गया हो तो उस स्थिति में साध्यवसाना लक्षणा मानी जाती है।

भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू गौर्वाहीकः इत्यत्र गौरयमित्यत्र च।

का० प्र० भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ

इमावारोपाध्यवसानरूपौ। सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीकः इत्यत्र गौरयमित्यत्र च।

लक्षणा के उपर्युक्त दोनों भेद सादृश्य सम्बन्ध रहने पर अथवा सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध के रहने पर हो सकते हैं। इनमें सादृश्य सम्बन्ध से उपर्युक्त दोनों लक्षणाप्रकार गौणी अर्थात् गौणी सारोपा एवं गौणी साध्यवसाना, तथा सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध की स्थिति में शुद्धा सारोपा एवं शुद्धा साध्यवसाना भेद कहे जाते है।

उपर्युक्त दोनों सारोपा और साध्यवसाना नामक लक्षणा के प्रकार सादृश्य सम्बन्ध पर आश्रित होने पर गौणी सारोपा एवं गौणी साध्यवसाना नाम से जाने जाते हैं। 'गौर्वाहीकः' वाक्य में गौणी सारोपा लक्षणा तथा 'गौरयम्' वाक्य में गौणीसाध्यवसाना लक्षणा का प्रकार माना जाता हैं।

अत्र स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधानं प्रति निमित्तत्वमुपयान्तीति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाऽभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयते इत्यपरे। साधारणगुणाश्रयणेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यन्ये।

का० प्र० अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गो शब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्तीति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयते इत्यपरे। साधारणगुणाश्रयणेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यरे।

'गौर्वाहीकः' इत्यादि स्थलों में लक्षणा द्वारा प्रतीत होने वाला अर्थ क्या है ? 'गोगत गुण' अथवा 'वाहीकगतगुण' अथवा 'वाहीक' ? इस संदर्भ में एक मत यह है कि गोपद से गो अर्थ की प्रतीति (अभिधा) द्वारा होने पर उस अभिधेय अर्थ साथ रहने वाले (सहचरित) जड़ता और मन्दता आदि गुणों की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती हैं। उन लक्षित गुणों के कारण गोपद वाहीक अर्थ का अभिधा द्वारा प्रतीति कराता है।

[इस मत का संकेत हमें उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह (१. ११.) में मिलता है।

दूसरा पक्ष है कि लक्षणा से गोगत गुणों की प्रतीति नहीं होती, अपितु गौ के गुणों के सदृश अतएव अभिन्न वाहीकगत गुणों की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है, अर्थात् 'गौर्वाहीक' स्थल में गोपद से सास्ना आदि से विशिष्ट पदार्थं की अभिधा द्वारा प्रतीति होने पर उस अभिधेय गो पदार्थ में रहने वाले गुणों से अभिन्न (सादृश्य के कारण अभिन्न प्रतीति होने वाले) वाहीकगत गुणों की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। इस प्रकार वाहीक अर्थ का अभिधान नहीं होता। [यह पक्ष मुकुल भट्ट का है। आशाधर भट्ट के अनुसार सारोपा में लक्षणा से गुण की प्रतीति एवं साध्यवसाना में गुणी की प्रतीति लक्षणा से होती है।[1]

तीसरा पक्ष है कि लक्षणा द्वारा न तो गोगत गुणों की प्रतीति होती है, और न वाहीकगत गुणों की, बल्कि अभिधा द्वारा गोपदार्थं की प्रतीति होने पर उसमें रहने वाले जाड्यमान्द्य आदि गुणों से अभिन्न जाड्यमान्द्य आदि गुणों के आश्रय भूत वाहीक पदार्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती हैं। यह तीसरा पक्ष मम्मट का है, विश्वनाथ आदि ने इसका ही अनुसरण किया है।

उक्तं चान्यत्र—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता। इति।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम्। तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्ति इत्यादौ लक्षणा न स्यात्। अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धे लक्षणाया

---

१. विशेष जानकारी के लिए अभिधावृत्तिमातृका [पृ० १७] एवं त्रिवेणिका [पृ० २३] अथवा वृत्ति समुच्चय देखें।

नोपयोग इत्युक्तम्। येन गोगतजाड्यमान्द्येत्याद्युच्यते । तेन तद्जाड्य-मान्द्यादिसदृश गुणाभेदाभ्युपगमे[1] गुणजातिप्रसङ्गाच्चतुष्टयी प्रवृत्तिरुक्ता व्याहन्येत।

का० प्र० उक्तं चान्यत्र—

"अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥" इति

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ लक्षणा न स्यात् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धे लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

कहा भी है —अभिधेय से अविनाभूत प्रतीति अर्थात् अभिधेय से अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध की प्रतीति लक्षणा है । लक्ष्यमाण गुणों के सम्बन्ध के आधार पर ही गौणीवृति स्वीकृत है ।' अविनाभाव से यहाँ तात्पर्य सम्बन्ध सामान्य से है, नान्तरी-यक सम्बन्ध से नहीं; क्योंकि नान्तरीयक सम्बन्ध स्वीकार करने पर 'मञ्चाः क्रोशन्ति' अर्थात् 'मचान चिल्ला रहे हैं' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा न हो सकेगी । क्योंकि मचान और उस पर बैठे हुए पुरुष में आधारआधेयभावसम्बन्ध है । यह सम्बन्ध नान्तरीयक अर्थात् नित्य सम्बन्ध, जिसमें दो सम्बन्धियों में अन्यतम के बिना दूसरा न रह सकें, नहीं है। क्योंकि मचान और पुरुष दोनों ही एक दूसरे के बिना निर्बाधरूप से रह सकते हैं । इसके अतिरिक्त जहां नान्तरीक सम्बन्ध है, वहां तो आक्षेप से ही अन्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है, जैसी कि 'गौरनुबन्ध्यः' आदि में आक्षेप से व्यक्ति आदि की प्रतीति होती है, अतः उस स्थिति में लक्षणा की अपेक्षा ही न होगी, यह पहले कहा जा चुका है । इसके अतिरिक्त यह भी अवधेय है कि 'जिस व्यापार (अभिधा व्यापार) के द्वारा गो शब्द से गोपदार्थगत जाड्य मान्द्य आदि की प्रतीति होती है, यदि उसी व्यापार से तत्सदृश जाड्य मान्द्य आदि से अभेद की भी प्रतीति स्वीकार की जाएगी तो उसके गुण और जाति आदि की भी प्रतीति स्वीकार करने में आपत्ति क्यों हो ? और ऐसी स्थिति 'चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः' कथित इस सिद्धान्त में व्यभिचार उपस्थित होगा ।

---

१. 'गोगतजाड्यमान्द्यादिसदृशजाड्यमान्द्येत्याद्युच्यते । तेन गुणाभेदाभ्युपगमे इति क ।

'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ सादृश्यादन्यत्[1] कार्यकारणभावादिः परः सम्बन्धः। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने। अत्र च गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि। क्वचित्ताद-र्थ्यादुपचारः, यथा 'इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः'। क्वचित्स्वस्वामिभावात्, यथा 'राजकीयः पुरुषो राजा'। क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा 'अग्रहस्त इत्यत्रा-ग्रमात्रावयवे हस्तः।' क्वचित्तात्कर्म्यात्, यथा 'अतक्षा तक्षा'।

का० प्र० 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेद'मित्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारण-भावादि सम्बन्धान्तरम्। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणसम्बन्धपूर्वमारो-पाध्यवसाने। अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्य प्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि। क्वचित्तादर्थ्यादुपचारः यथेन्द्रार्थाः स्थूणा इन्द्रः। क्वचित् स्वस्वामिभावाद्, यथा राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिदवयवावयविभावाद्, यथा अग्रहस्तः इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्त इति। क्वचित् तात्कर्म्याद्, यथा अतक्षा तक्षणात् तक्षा।

'आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' इत्यादि स्थलों में सादृश्य से भिन्न कार्य कारणभाव सम्बन्ध हैं। इसी प्रकार यहां कार्यकारणभाव सम्बन्ध से प्रथम में सारोपा और द्वितीय में साध्यवसाना लक्षणा है। गौणी लक्षणा के इन दोनों भेदों में प्रथम अर्थात् सारोपा में ताद्रूप्य प्रतीति एवं द्वितीय अर्थात् साध्यवसाना में 'दोनों (विषय और विषयी) में सर्वथा अभेद की प्रतीति होना' प्रयोजन है। इसी प्रकार शुद्धा के दोनों भेदों के उदाहरणों में से सारोपा में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विलक्षणता पूर्वक कार्यकारित्व की तथा साध्यवसाना में अनिवार्यरूप से कार्यकारित्व की प्रतीति होना प्रयोजन होता है। यह लक्षणा (उपचार) कहीं-कहीं तादर्थ्य (अर्थात् यह उसके लिए है) सम्बन्ध से भी होती है। यथा-इन्द्र के लिए लाए गये स्थूण (यज्ञसाधन-विशेष) इन्द्र कहे जाते हैं। कहीं स्वामिसेवकभाव सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है। यथा—राजा के व्यक्ति (कर्मचारी) को राजा कह लिया जाता है। कही-कहीं अवयव-अवयवि-भाव सम्बन्ध से भी लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है। यथा—हाथ के अग्रभाग से छू लेने पर लक्षणा के द्वारा 'हाथ से छू लिया है' इत्यादि प्रयोग किया जाता है।

---

१. सादृश्यादन्वयः इति क।

कहीं-कहीं तात्कर्म्य अर्थात् किसी का काम करने से वह काम करने वाला उसके अर्थात् जिसका काम कर रहे हैं उसके नाम से व्यवहृत होता है। उदाहरणार्थ देवदत्त बढ़ई नहीं है किन्तु यदि वह बढ़ई का कार्य कर रहा है, तो उसे बढ़ई कहा जाता है।

लक्षणा तेन षड्विधा ॥४॥

आद्यभेदाभ्यां सह। सा च "वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदाद्भिद्यते।"

का० प्र० लक्षणा तेन षड्विद्या ॥७॥

आद्यभेदाभ्यां सह।

का० इस प्रकार लक्षणा के छः प्रकार हैं।

ये छः भेद प्रथम दो भेदों को जोड़ कर होते हैं। जो निम्नलिखित है—

(१) सोपादाना, (२) सलक्षणा, (३) गौणी, (४) शुद्धा, (५) सारोपा, (६) साध्यवाना।

लक्षणा के उपर्युक्त प्रकारों का परस्पर गुणन करने पर यद्यपि प्रयोजनवती लक्षणा के ही आठ प्रकार हो जाते हैं, तथापि मम्मट द्वारा 'लक्षणा तेन षड्विद्या' कहने का तात्पर्य यह है कि लक्षणा को इन छः प्रकारों से ही विभाजित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। इस लक्षणा के वक्ता वाक्य और वाच्यार्थ भी भेदक हो सकते हैं।

तत्र वक्तृस्वरूपपर्यालोचनात् सा। यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

बहुभिरपकारैस्ताप्यमानस्य कस्यचिदुक्तिरियम्। अतो वक्तृमहिम्ना मूर्खे बृहस्पति शब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वाद्यत्र लक्ष्यते।

वक्ता के स्वरूप अर्थात् वक्तृ विशेष के आधार पर लक्षणा का उदाहरण यथा— आपने जो अत्यन्त उपकार किया है, उसके बारे में क्या कहना? आपने तो अतिशय सज्जनता दिखाई है। हे मित्र! सदा ऐसा ही व्यवहार करते हुए सैकड़ों वर्षों तक सुखी रहो।' अनेकानेक अपकारों से पीड़ित किसी व्यक्ति द्वारा अपकारी व्यक्ति के प्रति ये वचन कहे गये हैं। अतः वक्तृवैशिष्ट्य के कारण जिसप्रकार मूर्ख के लिए प्रयुक्त बृहस्पति पद से लक्षणा द्वारा 'महामूर्ख' अर्थ की प्रतीति होती है, उसीप्रकार यहाँ अपकारी के प्रति कथित उपर्युक्त वचनों से उसकी (अपकार कर्त्ता की) दुर्जनता आदि की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है।

वाक्यविशेषावधारणाद्यथा—

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विश्रब्ध चाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते च करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ।

अत्र धन्यास्मीति लक्ष्यते । वाक्यस्यात्रैव शक्तिः ।

वाक्य वैशिष्ट्य से होने वाली लक्षणा को निम्नलिखित पद्य में देखा जा सकता है :—

हे सखि ! तुम धन्य हो प्रिय के साथ समागम के और विविध रतिक्रियाओं के अवसर पर होने वाले एकान्त सम्भाषण और सैकड़ों प्रकार के चाटुवचनों की चर्चा करती हो । किन्तु मैं शपथपूर्वक कहती हूँ कि प्रिय द्वारा नीवी पर हाथ रखते ही, यदि कुछ भी स्मरण रहता हो; अर्थात् रतिक्रिया की भूमिका नीवी विमोचन की प्रक्रिया के प्रारम्भ होते ही स्वयं को भी भूल जाती हूँ ।' इस पद्य में 'धन्य हो' कथन से 'तुम अत्यन्त अधन्य हो' इस अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होती है । क्योंकि वाक्य का प्रयोग इसी अर्थ के द्योतन के लिए हुआ है; अतः वाक्य का तात्पर्य यही है ।

वाच्यविशेषनिरूपणाद्यथा—

भुवनाभयदानसक्तशक्तेः सकलस्वीक्रियमाणसम्पदस्ते ।
न समानधुराधिरोहदोषं सुमते कोऽपि कदापि कर्त्तुमीष्टे ॥

अत्र प्राणसमस्य व्यसनेऽपि तटस्थः, तृणमात्रमपि दातुमसमर्थश्च वाच्यः । एवं द्विकभेदास्त्रयः त्रिकभेदश्चैक उदाहार्याः ।

वाच्य विशेष के बोध से होने वाली लक्षणा इस पद्य में द्रष्टव्य है :—

यथा—

हे सुमति 'समस्त भुवन को अभयदान देने में जिसकी शक्ति संलग्न है, और जिसकी सम्पत्ति को समस्त प्राणिजन स्वीकार कर रहे हैं, ऐसे आपकी समानता करने का अपराध कोई कभी भी न करना चाहेगा ।'

इस पद्य में वाच्य अर्थात् जिससे कहा जा रहा है, 'वह ऐसा मनुष्य है, जो प्राणों के सदृश प्रिय व्यक्ति पर भी संकट आने पर तटस्थ बना रहता है, विपत्ति निवारण के लिए सोचता भी नहीं और तृणमात्र भी किसी को देने में असमर्थ है, ऐसे स्वार्थी और कृपण व्यक्ति के लिए कहे गये जाने पर उपर्युक्त वचन बाधित होने पर वैपरीत्य सम्बन्ध से लाक्षणिक अर्थ का बोध कराते हैं ।

इसी भांति दो के संसृष्ट तीन भेद अर्थात् (१) वक्ता और वाक्य के निरूपण से लक्षणा, (२) वक्ता और वाच्य के निरूपण सेलक्षणा (३) वाक्य और वाच्य के निरूपण से लक्षणा, तथा तीनों की संसृष्टि से एक भेद भी उदाहरणों में देखे जा सकते हैं।

मुकुलभट्ट द्वारा उपस्थापित लक्षणा के वक्तृवैशिष्ट्य आदि के उदाहरणों की समीक्षा :—

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायो नैव शिशोः पितास्य विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि तद् द्रुतमितः स्त्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नडग्रन्थयः॥

इत्यत्र,

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि'। हे पड़ोसिन, थोड़ी देर इधर मेरे घर पर भी आंख देना अर्थात् ध्यान रखना। प्रायः इस बालक के पिता कुएँ का खारी जल नहीं पीते हैं; अतः अकले ही सही यहां से सघन तमाल वृक्षों से आवृत नदी पर जा रही हूँ, भले ही वहाँ पुराने कठोर गांठों वाले कटे हुए, अतएव सघन नरकुल की गांठे मेरे शरीर को क्षत कर दें।'

इस पद्य में मुकुल भट्ट के अनुसार पर पुरुष से संभोग की कामनावाली युवती के वक्ता होने से 'नदी जल लाने' के कथन से परपुरुष संभोग तथा नरकुल की ग्रन्थियों से शरीरक्षत के कथन से नखक्षत दसनक्षत के गोपनरूप वस्तु की व्यंजना होती है।

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्यात्,
निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः—
त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

इत्यत्र,

इसी प्रकार,

हे राजन्! आप के समुद्रतट पर पहुँचने से सम्भवतः इन बितर्कों के कारण समुद्र में कम्पन होता है कि 'ये तो श्रीयुक्त है अतः अब मन्थन के लिए श्रम क्यों करेंगे? इनका मन आलस्यरहित है, अतः पहले की भांति निद्रा की भी कल्पना नहीं कर सकता हूँ, समस्त द्वीपों के स्वामी तो इनका अनुगमन कर रहे हैं, अतः अब ये सेतुबन्धन भी क्यों करेंगे? इत्यादि।

मुकुलभट्ट के अनुसार इस पद्य में वाक्यवैशिष्ट्य से राजा और वासुदेव में अभेदाध्यवसानरूप गौणी सारोपा लक्षणा है, इस प्रकार यहां लक्षणा से अतिशयोक्ति अलंकार व्यंग्य है।

दुर्वारा मदनेषवो दिशि दिशि व्याजृम्भते माधवो
हृद्युन्मादकराः शशांकरुचयश्चेतो हराः कोकिलाः ।
उत्तुङ्गस्तनभारदुर्धरमिदं प्रत्यग्रमन्यद् वयः
सोढव्याः सखि साम्प्रतं कथममी पञ्चाग्नयो दुःसहाः ॥

इत्यत्र च नादेयपानोयानयनेन परपुरुषसंभोगस्य नडग्रन्थिलेखनेन सम्भाव्यमाननखदशनक्षतानां च निह्नवात्मकं वस्तु, भवान् हरिरिति रूपकालंकारः ।

विप्रलम्भशृङ्गारश्च रसो न लक्ष्यते इति नोदाहार्यम् । मुख्यार्थस्य बाधाभावात् । असख्या अपि सख्यभिधानस्यैवं सम्भवात् । आक्षिप्तस्यालंकारस्य लक्ष्यत्वे च वह्न्यानयने पात्रानयनस्य लक्ष्यत्वप्रसङ्गात् । अबाधितस्यैव वाच्यस्य रसप्रतीतिकृत्त्वात् । सप्रयोजनायां च लक्षणायां तदतिरिक्तो व्यापारोऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्यः । तथा च सति प्रयोजने लक्षणा । तच्च न मुख्यार्थबाधनिमित्तवत्प्रमाणान्तराद् बोद्धव्यम्, तदर्थमेव लक्षणाशब्दप्रयोगात् । न खलु शाब्देऽर्थे प्रत्यक्षं क्रमते । नापि तत्पूर्वकमनुमानम् । नानुमानान्तरम्, अनवस्थापत्तेः । न स्मृतिः, तदनुभवाभावात् । सत्यामपि वा तस्यां नियतस्मरणं न स्यात् । तस्मात् शब्द एव प्रमाणम् । निर्व्यापारश्च शब्दो नार्थप्रतीतिकृत् । व्यापारश्च नाभिधा, तत्र संकेताभावात् । न लक्षणा तस्मिन्सति हि सा, न तु तद्विषया । नाप्यस्या लक्ष्ये बाधोऽस्ति । लक्ष्यप्रयोजनयोश्च सम्बन्धस्य प्रयोजनस्य चाभावात् । तस्यापि लक्षणेऽनवस्थापत्तिरिति न लक्षणा स्यात् । अस्ति च सा । ततः प्रयोजनविषयो व्यापारोभ्युपगन्तव्यः । स च ध्वननावगमनप्रकाशनद्योतनादिशब्दव्यवहार्यः ।

का० प्र० तत्र व्यापारो व्यंजनात्मकः ।

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापराक्रिया ॥

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतिपत्तिः, अपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृते व्यापारः । तथाहि—

नाभिधासमयाभावात्

'गंगायां घोषः' इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः संकेतिताः ।

हेत्वभावान्न लक्षणा ॥

मुख्यार्थ बाधादित्रयं हेतुः । तथा च

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वद् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात्, तत् प्रयोजनं लक्षयेत् । न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः । नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित्प्रयोजनम् । नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुं समर्थः ।

एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत्प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत् ।

इसी प्रकार :—

'हे सखि, एक तो दुर्वार काम के बाण, और दूसरे चारों ओर जम्माई लेता वसन्त, उस पर भी हृदय में उन्माद उत्पन्न करती हुई चांदनी, मनमोहक कोयल की कूक और उत्तुङ्ग-स्तन भार से बेवश होता हुआ यह नवयौवन, ये पाँचों दुःसह अग्नियां एक साथ उपस्थित हैं, अब इन्हें कैसे सहा जाए ?'' मुकुलभट्ट के अनुसार इस पद्य में वाच्य वैशिष्ट्य से होने वाली लक्षणा से विप्रलम्भ श्रृंगार की प्रतीति होती है ।

मम्मट के अनुसार इन पूर्वोक्त तीनों पद्यों में से प्रथम में नदी जल लाने से परपुरुष सम्भोग तथा नलग्रन्थि से खरोंच के द्वारा नखक्षत और दन्तक्षत का गोपनरूप वस्तु अर्थ की; द्वितीय 'प्राप्त श्री' इत्यादि पद्य में 'आप विष्णुरूप है' इत्यादि अर्थ की प्रतीति के द्वारा रूपक अलंकाररूप अर्थ की (मुकुलभट्ट ने अभेद अध्यवसान की लक्षणा द्वारा प्रतीति को स्वीकार किया है, अतः उनके मत में अतिशयोक्ति अलंकार प्रतीयमान है, रूपक नहीं । रूपकालंकार की प्रतीति के लिए अध्यवसान के स्थान पर अभेदारोप की लक्षणा द्वारा प्रतीति स्वीकार करनी होगी[1] ।) तथा तृतीय 'दुर्वारा' इत्यादि पद्य में विप्रलम्भ श्रृंगार की लक्षणा द्वारा प्रतीति स्वीकार करना उचित नहीं है । क्योंकि इन स्थलों में मुख्य अर्थ का बाध नहीं है, जो लक्षणा के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है । यहां प्रथम पद्य में जो सखी नहीं है, उसे 'सखी' पद से किये गये सम्बोधन से ही इस अर्थ की प्रतीति (व्यंजना द्वारा) हो सकती है । यदि द्वितीय

१. अभिधावृत्तमातृका पृ० ३४

पद्य जैसे स्थलों में आक्षिप्त अलंकार को भी लक्ष्य अर्थात् लक्षणा द्वारा प्रतीत स्वीकार किया जाता है, तो वह्नि लाने के कथन द्वारा आक्षेप से ही प्रतीत पात्र-आनयन को भी लक्षणावृत्ति का विषय मानना होगा। तृतीय पद्य में विप्रलम्भ शृङ्गार रस की प्रतीति लक्षणा का विषय इस कारण नहीं हो सकतो कि रस की प्रतीति में वही वाच्यार्थ हेतु बनता है, जो बाधित न हो बाधित वाच्यार्थ से वस्तुरूप अर्थ की प्रतीति भले हो रस प्रतीति नहीं हो सकती, यह सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजनरूप अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती, अपितु उसकी प्रतीति के लिए बाधित अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न अन्य व्यापार (व्यंजना व्यापार) अवश्य स्वीकार करना चाहिए। साथ ही लक्षणा प्रयोजन रहने पर ही होती है, तथा प्रयोजन की प्रतीति के लिए लक्ष्यार्थं प्रतीति के सदृश मुख्यार्थबाध आदि प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि उस प्रयोजन की प्रतीति के लिए ही लक्षणा की उपासना की गयी होती है। प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती, क्योंकि वह शब्दज्ञान का विषय है। उसकी प्रतीति को अनुमान प्रमाण से भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि अनुमान सदा प्रत्यक्षपूर्वक होता है, और यहां प्रत्यक्ष का अभाव है, यह अनुपद कहा जा चुका है। द्वितीय और तृतीय अनुमान से भी उसकी प्रतीति स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि एक अनुमान के लिए अनुमानान्तर की और पुनः उसके लिए अनुमान्तर की कल्पना करने में अनवस्था दोष उपस्थित होगा। इस प्रयोजनरूप अर्थ की प्रतीति स्मृति के द्वारा भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि स्मृति के लिए उससे पूर्व अनुभव का होना आवश्यक होता है, और यहां एतद्विषयक अनुभव का अभाव है। यदि कथमपि स्मरण को स्वीकार भी किया जाए तो सदा प्रयोजनरूप नियत अर्थ ही स्मरण का विषय हो, यह संभव नहीं हैं। अतः प्रयोजन की प्रतीति शब्द प्रमाण से ही होती है, यह मानना चाहिए। शब्द से अर्थ विशेष (प्रस्तुत प्रसंग में प्रयोजनरूप अर्थ) की प्रतीति के लिए व्यापार का होना अनिवार्य होगा। यहां प्रयोजन की शब्द से प्रतीति कराने में अभिधा व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि अभिधा के लिए संकेत आवश्यक है एवं प्रयोजनरूप अर्थ एवं वाचक पदों के बीच संकेत नहीं है। लक्षणा भी प्रयोजन की बोधिका नहीं मानी जा सकती। क्योंकि प्रयोजन के रहने पर लक्षणा प्रवृत्त होती है, न कि प्रयोजन लक्षणा का विषय है। प्रयोजन को लक्ष्यार्थ इसलिए भी नहीं कह सकते कि लक्षणा के लिए मुख्य अर्थ (पूर्व अर्थ) का बाधन आवश्यक है, जबकि यहां लक्ष्य अर्थ बाधित नहीं है। लक्ष्य (लक्षणा द्वारा प्रतीयमान) अर्थ की प्रतीति के लिए मुख्य और लक्ष्य अर्थ के बीच सम्बन्धों का होना भी आवश्यक है, जबकि यहां प्रयोजन रूप अर्थ एवं लक्ष्य अर्थ के बीच सम्बन्ध का भी अभाव है।

प्रयोजन रूप अर्थ की भी लक्षणा से प्रतीति मानने पर अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी होगी और पुनः उसके लिए प्रयोजनान्तर की इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होगा। क्योंकि प्रयोजन भूत अर्थ की प्रतीति तो होती ही है, अतः प्रयोजन की प्रतीति कराने वाले व्यापार को (व्यञ्जना व्यापार को) मानना आवश्यक है। वह व्यापार ही ध्वनन अवगमन प्रकाशन और द्योतन आदि नाम से पुकारा जाता है।

ननु 'गंगातटे घोष' इत्यादौ स्वशब्दात्ताद्दगर्थप्रतीतिर्न भवति, यादृशी 'गंगायां घोष' इत्यादेस्तदेव प्रयोजनम् पावनत्वादि धर्माक्रान्तं च तटादि लक्ष्यते इति विशिष्टे लक्षणा, न तु लक्षिते विशेषाः। एवं हि तटादेः पावनत्वादीनां च धर्मधर्मिभावश्चतुर्थो व्यापार उरीकर्त्तव्यः। लक्षणाफलं च कथमन्येन क्रियते। न च व्यापारस्य लक्षणात्मनो व्यञ्जना व्यापारो भवति। शब्दस्यासाविति चेन्न, [?] न हि लक्षणायाः प्रयोजनम् तस्माद् विशिष्टमेव लक्ष्यते।

का० प्र० ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।
प्रत्यक्षादेर्हि नीलादिर्विषयः फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा।

इस प्रसंग में एक प्रश्न हो सकता है कि 'गंगा तटे घोषः' वाक्य से उस प्रकार के अर्थ की प्रतीति नहीं होती जैसी कि 'गंगायाः घोष' वाक्य से होती है। यदि अर्थ का वह वैशिष्ट्य ही प्रयोजन है, तो यह क्यों न स्वीकार किया जाए, कि पावनत्व आदि धर्म से युक्त तट आदि अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् प्रयोजन विशिष्ट लक्ष्य अर्थ को प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है, न कि लक्ष्य अर्थ की प्रतीति होने के अनन्तर प्रयोजन की प्रतीति होती है। इस प्रसंग में यदि कोई आशंका करना चाहे कि 'उस स्थिति में तट आदि में पावनत्व आदि की प्रतीति के लिए धर्म धर्भिभावरूप चतुर्थ व्यापार मानना पड़ेगा', तो उचित न होगा क्योंकि जो पावनत्व आदि अर्थ लक्षणा का फल है, उसकी प्रतीति लक्षणा से भिन्न व्यापार से कैसे हो सकती है? साथ ही लक्षणा तो स्वयं व्यापार है उससे व्यापारान्तर अर्थात् व्यंजना व्यापार की कल्पना भी कैसे की जा सकती है, वह व्यंजना व्यापार लक्षणा के आश्रित न होकर शब्द के आश्रित हैं यह कहना भी उचित न होगा [.........] लक्षणा का प्रयोजन नहीं है। अतः प्रयोजन बिशिष्ट अर्थ की ही लक्षणा से प्रतीति होती है।

उच्यते—लक्षणायास्तटादिर्विषयः। न च तत्र पावनत्वादयः सन्ति। तत्कथं विशिष्टे लक्षणे। सामान्यनिष्ठश्च सङ्केत इति त्रितयात्मना सङ्केतभेदेन लक्षणा; सा कथं विशिष्टं गोचरीकुर्यात्। व्यज्यते त्वसङ्केतित एव।

किञ्च लक्षणाया गोचरो लक्ष्यो न प्रयोजनम्। प्रत्यक्षस्य हि नीलं विषयः। प्रकटता संवित्तिर्वा फलम्। अव्यभिचाराच्च लक्ष्यसंवित्फलत्वेनोक्ता। एवं ह्यभिधायाः अपि फलं संवित्, शब्दस्य च वाचकस्य संविदेव फलम्। तच्च विना व्यापाराज्ञ संभवति। न च व्यापारस्य व्यापार इति शब्दस्यैवासौ वाच्यः। लक्षणान्वयव्यतिरेकानुविधानं च सव्यापारस्य फलस्येति तस्यास्तत्कार्यम्, कार्यं च फलमुच्यते। क्रियान्तरप्राप्यस्य यागफलत्वमिव व्यञ्जनशक्तिनिर्वर्त्यस्य प्रयोजनस्य लक्षणाफलत्वम्। नीलविषयस्य प्रमाणस्य यथा नीलनिष्ठैव प्रकटता संविद्वाफलं तद्वल्लक्षणाया स्तद्विषयनिष्ठमेव प्रयोजनम्। तेन धर्मधर्मि परिकल्पकं नोपयुज्यते व्यापारान्तरम्। तेन सिद्धमेतल्लक्षणायाः अतिरिक्तो व्यापारः समाश्रयणीयः।

का० प्र० विशिष्टे लक्षणा नैवं विशेषाः स्युस्तु लक्षिते॥

तटादौ विशेषाः पावनत्वादयः। ते चाभिधा-लक्षणा-तात्पर्येभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जनध्वननादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम्।

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान यह है कि लक्षणा व्यापार का विषय केवल तट आदि है, उस 'लक्ष्य अर्थ में 'पावनत्व' आदि विद्यमान नहीं हैं, अतः 'विशिष्ट अर्थ में लक्षणा होती है' यह कहना कैसे उचित माना जाए? इस संदर्भ में स्मरणीय है कि यदि शब्दगत संकेत सामान्य अर्थ में ही होता है, तथा संकेत से भिन्न मुख्यार्थबाध-सम्बन्ध और प्रयोजन या रूढ़ि में अन्यतर तीनों के रहने पर लक्षणा अर्थ की प्रतीति कराती है, तो यह अर्थ सामान्य से भिन्न अर्थात् विशिष्ट रूप कैसे हो सकता है? हमारे पक्ष में यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि हम तो उसे (प्रयोजन रूप अर्थ को) व्यङ्ग्य मानते हैं और व्यंग अर्थ सदा संकेतित से भिन्न होता है (उसके लिए वाच्यार्थ से सम्बद्ध होना भी आवश्यक नहीं है)। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि लक्षणा द्वारा प्रतीत होने वाला अर्थ लक्ष्यार्थ होता है, प्रयोजन नहीं। वह प्रयोजन लक्ष्यार्थ से भिन्न है, अभिन्न नहीं। जिस प्रकार नीलपट का प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा साक्षात्कार करने पर प्रत्यक्ष का विषय नील पट और नील गुण होता है। नील की प्रकटता अथवा बोध उसका फल होता हैं। यह संवित् (बोध) प्रत्यक्ष के विषय से भिन्न है, उसी प्रकार लक्षणा का प्रयोजन भी लक्ष्यार्थ से भिन्न होना ही चाहिए। जिस प्रकार प्रत्यक्ष के लक्ष्य से अव्यभिचरित उसकी संवित्ति कही जाती हैं, उसी प्रकार शब्द अभिधान[1] का विषय वाचक शब्द है, और उस वाचक शब्द का बोध (संवित्ति) उसका फल है। इस संवित्तिरूप फल की उपलब्धि व्यापार के बिना नहीं हो सकती। तथा

१. यहाँ कथन या उच्चारण के लिए ही अभिधान पद प्रयुक्त है।

व्यापार में व्यापार नहीं हो सकता, अतः उसका आश्रय शब्द है, यही मानना होगा। किसी भी कारण वस्तु के व्यापार युक्त होने पर व्यापार सहित उस वस्तु का कार्य क्या है ? इसका निर्णय अन्वय व्यतिरेक के आधार पर ही होता है; जो वस्तु व्यापृत वस्तु के अव्यवहित उत्तर में उत्पन्न हो और उसके न रहने पर न उत्पन्न हो, वह उसका कार्य है। इस प्रकार लक्षणा का कार्य लक्ष्यार्थ की प्रतीति है, क्योंकि 'गंगायां-घोषः' वाक्य में लक्षणा व्यापार युक्त 'गंगा' पद से तट अर्थ का बोध होता है, अतः तट अर्थ का बोध लक्षणा व्यापार सहित गंगा पद का कार्य है। जिस प्रकार याग क्रिया से अदृष्ट उत्पन्न होना है, तथा अदृष्ट व्यापार से स्वर्गादि प्राप्त होता है। इस प्रकार याग क्रिया का फल अन्य व्यापार अर्थात् अदृष्ट व्यापार से प्राप्त होता है। उसी प्रकार लक्षणाव्यापार के फल की प्राप्ति (बोध) भी व्यापारान्तर से अर्थात् व्यंजना व्यापार से होती है, इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, तथा व्यञ्जना व्यापार से प्रतीत होने पर भी प्रयोजन उसीप्रकार लक्षणा का फल कहा जायेगा, जिसप्रकार अदृष्टजन्य स्वर्ग प्राप्ति को भी यागक्रियाजन्य माना जाता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से नील विषय का साक्षात्कार होने पर नीलनिष्ठाप्रकटता अथवा बोध प्रमाण का फल होता है, उसीभाँति लक्षणा के विषय लक्ष्य में स्थित प्रयोजन भी लक्षणा का ही फल कहा जाना चाहिए। अतः धर्मधर्मिभावरूप प्रयोजन की प्रतीति के लिए अतिरिक्त व्यापार की कल्पना करना उचित नहीं है। इस प्रकार लक्षणा से अतिरिक्त व्यापार (अर्थात् व्यञ्जना व्यापार) का आश्रयण अवश्यमेव करना चाहिए।

निरूढा काचनान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा।

अनुलोमप्रतिकूलादिशब्देषु काचन सा वाच्यमर्थं परिहृत्य लक्ष्य एवार्थे वाचकवन्निरूढा[1]। अपरा तु मुख्यार्थबाधानिमित्तप्रयोजनेषु सत्सु कर्त्तव्या।

का० लक्षणा का एक प्रकार निरूढ़ा है और एक अन्य प्रकार (प्रयोजन आदि से युक्त) है।

अनुलोम प्रतिकूल आदि शब्दों में लक्षणा का एक कोई (विशिष्ट) प्रकार है, जिसमें शब्द मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्ष्य अर्थ में वाचक के समान ही निरूढ़ हैं। और दूसरा प्रकार वह है, जहाँ मुख्य अर्थ का बाध सम्बन्ध तथा प्रयोजन होने पर लक्षणा होती है।

---

१. तुलनीय—निरूढाः लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥
तन्त्रवार्त्तिक अरुणाधिकरण। १-१-६

रविणा हृतसौभाग्यस्तुषारावृत मण्डलः ।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।

इत्यादावन्धादि शब्देषु अनुपपद्यमानत्वाद् वाच्यमत्यन्तं तिरस्कृतमिति विच्छायत्वस्य लक्षितस्यासामान्यत्वं व्यंग्यम् ।

यथा :—

'सूर्य द्वारा अपहृत सौभाग्य वाला तुषार से (कुहरे से) जिसका मण्डल ढँक गया है, ऐसा चन्द्रमा निःश्वास से अन्धे आइने के समान प्रकाशित नहीं हो रहा है ।'

इत्यादि पद्यों में 'अन्ध' इत्यादि पदों की वाच्य अर्थ में सङ्गति नहीं बनती अतः वाच्य अर्थ का पूर्ण तिरस्कार (त्याग) करके अन्धपद 'कान्तिहीनता' (विच्छायत्व) अर्थ की प्रतीति कराता है । यहाँ लक्षणा का प्रयोजन (फल) असामान्य कान्तिहीनता की प्रतीति होना है, इस 'असामान्यत्व' की प्रतीति व्यंजना के द्वारा होती है ।

तथाः—

स पुरुषः स च जीवति सत्कृतं
जगति यस्य पराक्रमसंभृतम् ।
भ्रमति सूर्यकरैस्सहगामिमा—
मभिनवोदितपल्लवितं यशः ॥

इत्यादौ पुरुष शब्दोऽनुपयुज्यमानत्वाल्लक्षितस्वगतपराक्रमवत्त्वादि धर्मव्यंग्य तदानन्त्य [व्यंग्यतयात्यन्ततिरस्कृत] संक्रमितवाच्यः ।

रेफद्वयानुगतभ्रमरादि शब्दाभिधेयत्वे द्विरेफशब्दः षट्पदे यथा प्रयुज्यते तथा कोकिलादौ 'द्विक' इत्यादिकाः अन्यथा न प्रयोज्याः ।[1]

---

१. तुलनीय :—ननु द्विरेफादीनां शब्दानां रेफद्वितयानुगतभ्रमरादिशब्दलक्षणाद्वारेण यथा—षट्पदादौ प्रवृत्तिः तथा 'तुरङ्गकान्ताननहव्यबाह' शब्दस्यापि वडवामुखाग्नौ वडवादिशब्दलक्षणाद्वारेण कथं प्रवृत्तिर्न स्यात्, तज्जातीये द्विरेफादौ शब्दलक्षणायाः परिदृष्टत्वात् । नैतत् । वृद्धव्यवहाराभ्यनुज्ञातेष्वेव शब्देषु तज्जातीयशब्ददर्शनात् लक्षणात्वमभ्युपगम्यते न तु सर्वत्र । अन्यथा सर्वेषामेव शब्दानां येन केनचिज्जातिलेशेन सर्वानर्थान्प्रति लक्षणाशब्दत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् । न कश्चिच्छब्दः कंचिदर्थं प्रत्यगमकः स्यात् ।

—अभिधावृत्तिमातृका पृ० २९-३० ।

इसी प्रकार :—

'वह ही पुरुष है, ओर वही जीवित है, जिसका सुपूजित (समादृत) पराक्रम संसार में व्याप्त है, तथा जिसका अभिनव उदित और पल्लवित यश सूर्य की किरणों का सहगामी होकर विश्व में भ्रमण करता है।' इत्यादि पद्य मे पुरुष शब्द वाक्यार्थ में अन्वित नहीं होता और तभी वह अपने पराक्रम-शालित्व आदि की लक्षणा द्वारा प्रतीति कराता है, और व्यञ्जना द्वारा प्रयोजन (लक्षणा के फल) के रूप में उन पराक्रमशालित्व आदि गुणों की अनन्तता आदि की प्रतीति होने से वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है।

भ्रमर आदि पदों के वाच्यभूत अर्थ षट्पद की प्रतीति कराने के लिए द्विरेफ इत्यादि शब्दों का प्रयोग निरूढा लक्षणा द्वारा होता है, उसके अनुकरण पर कोकिल आदि पदों के वाच्यभूत अर्थ की प्रतीति के लिए लक्षणा की सहायता से 'द्विक' आदि पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए [क्योंकि उन पदों का प्रयोग वृद्ध व्यवहार में प्राप्त नहीं है]।

वाक्यार्थ प्रतीति के सम्बन्ध में पद-पदार्थ और वाक्य-वाक्यार्थ तथा उनके अन्वय की कल्पना के आधार पर वाक्यार्थ प्रतीति की प्रक्रिया में चार संभावनाएँ की जा सकती हैं। (१) अभिहित-अन्वयवाद, (२) अन्वित-अभिधानवाद, (३) उभय समुच्चयवाद, एवं (४) अखण्ड वाक्यार्थवाद। इनमें प्रथम अर्थात् अभिहितान्वयवाद का तात्पर्य है कि प्रत्येक पद का एक जातिरूप अर्थ है, अभिधा व्यापार से उस अर्थ की प्रतीति के अनन्तर पदार्थों का वाक्यार्थ में अन्वय होता है, और पुनः तात्पर्यशक्ति से वाक्यार्थ का बोध होता है। द्वितीय अर्थात् अन्विताभिधानवाद का तात्पर्य है कि प्रत्येक पदों का वाक्यगत अन्य पदों के साथ अर्थ प्रतीति के पूर्व से ही अन्वय किया होता है, फलतः अन्वितपदों से निर्मित वाक्य द्वारा अन्वित पदार्थों वाले वाक्यार्थ का अभिधा द्वारा बोध होता है। तृतीय पक्ष अर्थात् समुच्चयवाद का तात्पर्य है कि वाक्यार्थ प्रतीति तो परस्पर अन्वितपदार्थरूप होती है, अतः वाक्य की अपेक्षा से देखने पर तो अन्विताभिधान रहता है, किन्तु वाक्यार्थ के साथ ही पदार्थ प्रतीति भी होती रहती है, अतः पदों की अपेक्षा से अभिहितान्वय रहता है। चतुर्थ पक्ष वाक्यार्थ को अखण्ड मानता है इस पक्ष में वाक्य में पद पदार्थ की कल्पना ही अनुचित है। उपर्युक्त चारों पक्षों में लक्षणा की क्या स्थिति है, इसका विवरण अग्रिम पृष्ठों में प्रस्तुत है :—

उक्तान्वये च सा पश्चात्

इहानत्याद् व्यभिचाराच्च वाक्यार्थ इव विशेषरूपे पदार्थे पदस्य संकेतः कर्त्तुं न पार्यते इति सामान्य एव संकेतः। आकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्

सामान्यानामभिहितानां सतामन्वय इति पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। एवं चापदार्थस्तात्पर्यशक्त्या प्रतिपाद्यते। अत्र पक्षे पूर्वमभिधा, ततोऽन्वयबाधे लक्षणा।

का० उक्तान्वय अर्थात् अभिहितान्वयवाद (कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायियों के पक्ष) को स्वीकार करने पर वाच्यार्थ प्रतीति के अनन्तर [पदार्थों में परस्पर अन्वय न बनने पर] लक्षणा का आश्रय लिया जाता है[1]।

इस पक्ष में पदार्थ जातिरूप (सामान्यरूप) होता है, क्योंकि जिस प्रकार वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति में विशेषरूप अर्थ स्वीकार्य होता है, उसी प्रकार पदार्थ में भी विशेष अर्थ स्वीकार करने पर अनन्त पद-पदार्थों में अनन्त संकेत तथा प्रथमदृष्ट गौ विशेष के अर्थ बोध में व्यभिचार दोष होगा। इस प्रकार पदों से जाति रूप अर्थों का बोध होने पर आकांक्षा आदि की सहायता से अन्वय होने पर विशिष्ट पदार्थों का (सामान्य से भिन्न अर्थ का) बोध होता है, इस प्रकार इस पक्ष में वाक्यार्थ विशेषरूप होता है, जबकि पदार्थ सामान्यरूप। फलतः वाक्यार्थ अपदार्थ (पदार्थ से भिन्न) हुआ करता है। इस पक्ष के अनुसार अभिधा व्यापार के अनन्तर मुख्यार्थबाध आदि का बोध होता है और उसके अनन्तर लक्षणा व्यापार से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है।

अन्वितोक्तौ पुनः पुरः ॥५॥

देवदत्त गामानयेत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणान्मध्यमवृद्धो विशिष्ट व्यापारं करोति इति दृष्ट्वा व्युत्पद्यमानो निर्विभागेऽर्थे निर्विभागं वाक्यं वाचकं जानाति। ततो यज्ञदत्त गामानयेत्यादिवाक्यान्तरप्रयोगे सति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां नियतस्य नियतार्थमवस्यतीति सामान्यावच्छादिते विशिष्ट एव पदार्थे पदानां सङ्केत इत्यन्वितानामेव सतामभिधानमिति विशिष्टानां पदार्थता।[2] अत्र पक्षेऽभिधायाः पुर = आदौ लक्षणा विशिष्टस्यैव पदार्थत्वात्।

का० अन्विताभिधान पक्ष में लक्षणा अभिधा से पूर्व अर्थबोध में प्रवृत्त होती है ॥५॥

अन्विताभिधानवाद की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—'देवदत्त गौ लाओ' इत्यादि वाक्य को उत्तमवृद्ध के मुख से सुनकर मध्यमवृद्ध 'एक विशिष्ट व्यापार करता है, अर्थात् पदार्थ विशेष गौ को लाता है, अर्थात् गो पदार्थ सहचरित क्रिया विशेष करता है।' इसे देखकर वाक्यार्थबोध को सीखनेवाला व्यक्ति पद विभाग की कल्पना से रहित वाक्य और पदार्थ की कल्पना से रहित वाक्यार्थ को

१. देखिये तत्त्व बिन्दु पृ० ११२—१६१

२. वाक्यार्थमातृका १, १० एवं वृत्ति

जानता है अर्थात् उस बोध में वाक्य और वाक्यार्थ दोनों ही विभाग रहित होते हैं। पुनः 'यज्ञदत्त गौ लाओ' इत्यादि अन्य वाक्यों का प्रयोग होने पर नियत वाक्य से नियत वाक्यार्थ का निश्चय करता है। उसके पद पदार्थ बोध में 'सामान्य से अवच्छादित विशेषरूप पदार्थ में पद का संकेत है' ऐसा निश्चय रहता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में अन्वित पदार्थों का ही वाक्यार्थ के रूप में अभिधान होता है, इसलिए इस पक्ष में पदार्थ सामान्यरूप न होकर विशेषरूप होते हैं, सामान्य अर्थ का बोध बाद में होता है। प्रभाकर और उनके अनुयायियों के इस पक्ष में पदार्थ के विशिष्ट होने की स्थिति में विशिष्ट-अर्थबोधक लक्षणा व्यापार पहले होगा एवं सामान्य अर्थ बोधक अभिधा व्यापार उसके बाद। इस प्रकार इस पक्ष में लक्षणा अभिधा से पूर्व होगी।

द्वये द्वयम्

पदापेक्षयाऽभिहितान्वयः वाक्यापेक्षयात्वन्विताभिधानमिति पक्षे द्वयम्। अभिधायाः पश्चात् पुरस्ताच्च सा।

का० समुच्चय पक्ष में अभिधा के पश्चात् लक्षणा एवं लक्षणा के पश्चात् अभिधा दोनों स्थितियां साथ साथ-साथ होंगी।

समुच्चय पक्ष में क्योंकि पदों की दृष्टि से अभिहितान्वय एवं वाक्य की अपेक्षा अन्विताभिधान दोनों ही रहता है, अतएव लक्षणा भी पद-पदार्थ की अपेक्षा से अभिधा के पूर्व होगी। अर्थात् एक दृष्टि से पहले अभिधा पुनः लक्षणा और दूसरी दृष्टि से पहले लक्षणा पुनः अभिधा व्यापार की प्रक्रिया होगी।

अखण्डे तु वाक्यार्थे नास्ति सत्यतः।

वाक्यमेव वाक्यार्थस्य वाचकम्। पदेषु वर्णवद् वाक्येषु हि पदानामनर्थकत्वम्। ततश्च लक्षणा नास्त्येव। कशाभिघातात्तुरगस्य यथा प्रेषितोऽहमनेन धावन इति प्रतिभोदेति, तद्वत्प्रतिभावशाद्विशिष्टवाक्यात्प्रतिपत्तिरिति सैव वाक्यार्थः। असत्यभूतप्रकृतिप्रत्ययादिकल्पनवदविद्यापदे पदार्थकल्पनायां तूक्तेषु पक्षेषु त्रयः पक्षाः।

का० अखण्ड वाक्यार्थ मानने पर सत्यतः लक्षणा होती ही नहीं।

'पदे न वर्णाः विद्यन्ते वर्णेष्ववयवाश्च न।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥' वा० प० १.७३

इत्यादि भर्तृहरि के अखण्डवाक्यार्थवाद के अनुयायियों के मत में वाक्य ही वाक्यार्थ का वाचक है। उनका तर्क है कि जिस प्रकार पदों में वर्णों को अवयव मानकर उनके अर्थों की कल्पना नहीं की जाती, उसी प्रकार वाक्यों में पदों के अर्थों की कल्पना भी

नहीं करनी चाहिए, अर्थात् वर्णों के समान वाक्य में पद भी निरर्थक हैं, निज अर्थ रहित हैं। अतः इस पक्ष में मुख्यार्थबाध आदि की कल्पना नहीं की जा सकती और इसीलिए इस पक्ष में लक्षणा स्वीकार्य नहीं होती। इस पक्ष के अनुयायियों की मान्यता है कि जिस प्रकार कोड़े के प्रहार को पाकर घोड़े को यह बोध होता है कि 'मैं इसके द्वारा दौड़ने में प्रेरित किया गया हूँ' उसी प्रकार श्रोता को भी अपनी प्रतिभावश विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध होता है, और वही वाक्यार्थ हैं। इस पक्ष में असत्यभूत प्रकृति प्रत्यय की कल्पना के समान पद पदार्थ की कल्पना स्वीकार करने पर अभिधा एवं लक्षणा के क्रम के सम्बन्ध में पूर्वोक्त तीन पक्ष होते हैं।

यश्च सम्बन्धो लक्षणाया निमित्तं तं पञ्चविधमाहुः। यथोक्तम्—

अभिधेयेन सम्बन्धात्सादृश्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रिया योगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥इति।

तत्र द्विरेफादि शब्दस्य भ्रमरादिः शब्दोऽभिधेयः। तत्सम्बन्धात्तेन षट्पदो लक्ष्यते इति अभिधेय सम्बन्धनिमित्तता। सादृश्याद्यथा—सिंहो माणवक इति।

लक्षणा का निमित्तभूत सम्बन्ध पाँच प्रकार का माना आता है। जैसा कि कहा भी है [भर्तृमित्र ने कहा भी है]

(१) मुख्य अर्थ से संयोग आदि सम्बन्ध होने से,(२) मुख्य अर्थ के साथ सादृश्य सम्बन्ध होने से, (३) मुख्य अर्थ के साथ समवाय (समूह) सम्बन्ध होने से, (४) मुख्य अर्थ से वैपरीत्य सम्बन्ध होने से, (५) मुख्य अर्थरूप क्रिया से युक्त होने से लक्षणा पाँच प्रकार की मानी गयी है।''

यथा—द्विरेफ आदि शब्दों का मुख्य अर्थ दो रेफ वाला अर्थात् वह पद जिसमें दो रेफ हैं 'भ्रमर' आदि है। इस प्रकार द्विरेफ पद के यौगिक अर्थ भ्रमर पद से संकेतरूप सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध भ्रमर पदार्थ का बोध लक्षणा द्वारा होता है।

सादृश्य सम्बन्ध से लक्षशा का उदाहरण 'सिंहो माणवकः' अर्थात् 'यह लड़का तो शेर है', इत्यादि वाक्य हो सकते हैं। यहाँ सिंह पद का मुख्य अर्थ 'वनराज शेर' है, उसके सदृश निर्भयता और साहस आदि गुणों से सम्पन्न बालक का लक्षणा से बोध होकर माणवक पद के साथ एकान्वय होता है।

यथा वा—

वर्षे समस्त एवैकः श्लाघ्यः कोप्येष वासरः।
दिनैर्महत्तयान्वेयो यो न पूर्वैर्न चापरैः ॥

अत्र प्रकरणवशान्महापुरुषः कश्चिल्लक्ष्यते, यस्य कुले [वर्त्तमानाः] पूर्वभाविनो वा पुरुषा न समानत्वमुपयान्ति।

समवायः उक्तसम्बन्धेभ्योऽन्यः सम्बन्धः। ततो यथा [सादृश्यात् सिंहोमाणवक इति] सामीप्यात् गंगायां घोष इति, तथा साहचर्यात् (समवायात्) छत्रिणो यान्तीति। अत्र छत्रि साहचर्यात् अछत्रा अप्येवं व्यपदिश्यन्ते वैपरीत्याद् यथा—कातरे 'भार्गव' इति।

इसी भाँति अन्य उदाहरण 'वर्षे समस्त' इत्यादि है :—

"समस्त वर्ष में केवल एक वह दिन ही श्लाघनीय है, महत्ता के द्वारा जिसका अनुसरण न तो पूर्व दिन कर सकते हैं और न परवर्ती दिन। इसी भाँति वंश में एक ही व्यक्ति श्लाघनीय है, जिसकी महत्ता को न पूर्वज पा सकते हैं, और न बाद के अन्य वंशज।"

इस पद्य में प्रकरण के सामर्थ्य से दिवस पद से महत्तारूप सादृश्य सम्बन्ध को निमित्त मानकर प्रवृत्त लक्षणा व्यापार से महापुरुष विशेष की प्रतीति होती है जिसकी समानता न तो पूर्वभावी पुरुष कर पाते हैं, न वर्तमान और न बाद के लोग ही कर सकेंगे।

समवाय पद मम्मट के अनुसार यहाँ न्यायवैशेषिक-परम्परा में स्वीकृत नित्य सम्बन्धरूप समवाय नहीं है। उनके अनुसार वे सभी सम्बन्ध जो पूर्व सम्बन्धों में नहीं आते समवाय में स्वीकार किये जा सकते हैं। फलतः जिस प्रकार सामीप्य सम्बन्ध के कारण 'गंगायां घोषः' वाक्य से गंगा पद से गंगा प्रवाह से सम्बद्ध तट अर्थ का बोध होता है उसी प्रकार साहचर्य सम्बन्ध, जो समवाय का एक प्रकार है, को निमित्त मानकर 'क्षत्रिणो यान्ति' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा व्यापार से छत्रधारी जनों के साहचर्य से उन व्यक्तियों का भी बोध हो जाता है, जो छत्रधारी नहीं हैं, किन्तु छत्र धारियों के साथ हैं। वैपरीत्य सम्बन्ध का उदाहरण—किसी कायर के लिए 'भार्गव' अर्थात् परशुराम कहना।

क्रियायोगाद् यथा—

पृथुरसि गुणैः कीर्त्या रामो नलो भरतो भवान्,
महति समरे शत्रुघ्नस्त्वं तथा जनकः स्थितेः।

इति सुचरितैः मूर्त्तिं बिभ्रत्पुरातन भूभृतां
कथमसि न मान्धाता देव त्रिलोकविजय्यपि॥

अत्राशत्रुघ्नेऽपि शत्रुहननक्रियायोगाद् शत्रुघ्नत्वेन व्यपदेशः॥

क्रिया योग से लक्षणा, यथा—

हे राजन् तुम गुणों से पृथु हो, और कीर्ति से राम नल और भरत हो, महा-युद्ध में तुम शत्रुघ्न हो, और मानसिक स्थिरता में जनक हो। इस प्रकार तुम अपने

सुन्दर चरित के कारण अनेक (पृथु राम नल भरत शत्रुघ्न एवं जनक आदि) प्राचीन राजाओं के स्वरूप (मूर्ति) को धारण करते हुए त्रिलोक विजयी मान्धाता (माम् = मुझको, धाता = धारण करने वाले एवं एक राजाविशेष) भी क्यों नहीं होते।

इस पद्य में पृथु होने में कारण गुण हैं तथा राम नल और भरत होने में कारण कीर्त्ति हैं, ऐसा शब्दशः कथन होने से उन पदों से राजा का अभिधा-शक्ति से ही बोध होता हैं। किन्तु प्रस्तुत राजा को शत्रुघ्न कहने में कारण का कथन न करके, 'महतियुद्धे' अर्थात् 'महायुद्धों में' अधिकरण का उपादान करके शत्रुघ्न पद को शुद्ध रूप से यौगिक ग्रहण करने का नियमन कर दिया गया है, इस प्रकार शत्रुघ्न पद से शत्रु नाश करने वाला इस अर्थ की अभिधा द्वारा प्रतीति होती है। पुनः शत्रहनन रूप क्रिया के सम्बन्ध से राम के लघु भ्राता शत्रुजयी शत्रुघ्न का बोध लक्षणा द्वारा होता है।

प्रज्ञानैर्मल्य[1] वैदग्ध्य प्रस्तावादिविधायुजः।
अभिधालक्षणायोगी व्यंग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः ॥७॥

यथा संकेतेन मुख्यार्थबाधादित्रितयेन च सहायेनाभिधायको लक्षकश्च, तथा प्रतिभानैर्मल्य-विदग्धपरिचय-प्रकरणादिज्ञानसापेक्षो वाचको लक्षकश्च व्यङ्ग्यमर्थं ध्वनिः शब्दो व्यनक्ति।

का० प्रज्ञाप्रसाद, अर्थात् प्रतिभा, वैदग्ध्य अर्थात् अभ्यासपूर्वक वैदुष्य एवं प्रकरण आदि की सहायता से जब अभिधाव्यापार पूर्वक अथवा लक्षणाव्यापारपूर्वक शब्द व्यंग्य अर्थ को प्रगट कराता है, तब इस व्यंग्य अर्थ को प्रगट करने वाले शब्द को व्यंजक अथवा ध्वनि भी करते हैं।

जिस प्रकार संकेत की सहायता से अभिधायक शब्द मुख्य अर्थ को प्रगट कराता है, और जिस प्रकार मुख्यार्थबाध सम्बन्ध और रूढ़ि या प्रयोजन में अन्यतम इन तीनों की सहायता से लक्षक शब्द लक्ष्यार्थ को प्रगट करता है; अथवा जिस प्रकार पक्षधर्म अर्थात् हेतु अन्वय और व्यतिरेक की सहायता से विवक्षित अर्थ का अनुमान द्वारा बोध होता है, उसी भाँति प्रतिभा की निर्मलता विदग्ध जनों के साहचर्य से प्राप्त अभ्यास एवं प्रकरण ज्ञान आदि की सहायता से ध्वनि अर्थात् शब्द, वह चाहे वाचक हो अथवा लक्षक (दोनों ही स्थितियों) में व्यंग्य अर्थ का बोध कराता है। तात्पर्य यह है कि व्यंजना व्यापार से अर्थ बोध के लिए प्रतिभा नैर्मल्य आदि की आवश्यकता होती है।

१. नैर्मल इति—क

साथ ही प्रत्येक व्यञ्जक शब्द वाचक या लक्षक भी अवश्य होता है। व्यंग्य अर्थ का बोध कराने वाले शब्दों को ध्वनि भी कहाँ जाता है।

[यह व्यङ्ग्य अर्थ पदप्रकाश्य भी हो सकता है और वाक्यप्रकाश्य भी। वाचक शब्द भी व्यंजक हो सकता है और वाच्य अर्थ भी, साथ ही लक्षक पद भी व्यंजना का हेतु हो सकता है, और लक्ष्य अर्थ भी। इनमें से कुछ के उदाहरण अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत हैं—]

तत्र व्यंग्यः पदप्रकाश्यो यथा—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं बग्ध कित्तीअ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुण्हा॥

[वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी परिसंक्रामति स्नुषा॥]

अभिधामूलक पदप्रकाश्यव्यङ्ग्च—

"हे व्यापारी, हमारे घर में तब तक हाथी के दाँत और व्याघ्र का चर्म कहाँ सँभव है, जब तक चंचल केशपाशयुक्त मुखवाली बहू घर में घूम रही है।"

प्रस्तुत पद्य में स्नुषा के विशेषण लुलितालकमुखी (लुलिआलअमुही) के कथन होने से नववधू के सौन्दर्यातिशय की और उससे उसके प्रिय के सौन्दर्याकिर्षण के वशीभूत होने और उसके फल स्वरूप मृगया से विरत होने और इसी कारण हस्तिदन्त और व्याघ्रकृत्ति के अभाव की व्यंजना हो रही है। यह व्यंजना यहाँ लुलितालकमुखी पद से प्रकाशित हो रही है, अतः यहाँ पद प्रकाश्य-अभिधामूलव्यंग्य अर्थ स्वीकार किया जा सकता है।

वाक्य प्रकाश्यो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जई एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्ति अन्धअ सेज्जाइ मह णिमज्जहिसि॥

[श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय।
मा पथिक राज्यन्धक शय्यायामावयो र्निमंक्ष्यसि॥]

अत्राभिधामूलं व्यञ्जनम्।

लक्षणामूलं यथा—'निश्वासान्ध इवादर्शः' इत्युदाहृतम्।

वाक्य प्रकाश्य अभिधामूल व्यंग्य—

'हे पथिक दिन में ही देख लो—यहाँ सास जी सोती हैं (निमज्जति = डूब जाती है) और यहाँ पर मैं लेटती हूँ। हे रात्रि के अन्धे! कहीं हम दोनों की शय्या में निमग्न न हो जाना।'

प्रस्तुत पद्य में सास की शय्या दिखाते हुए 'निमज्जति' पद द्वारा निद्रा में बेहोस होकर सोने का कथन होने, 'रात्र्यन्धक' सम्बोधन से पकड़े जाने पर बचने के बहाने का संकेत आदि से युक्त 'मा सेज्जाइ मह निमज्जहिसि' इत्यादि निषेध वाक्य द्वारा वक्ता नायिका द्वारा सम्भोग की कामना से आमन्त्रण की व्यंजना होती है। इस प्रकार यहाँ अभिधामूलक 'वाक्य' प्रकाश्य व्यंग्य अर्थ स्वीकार किया जाता है।

लक्षणामूलव्यंग्य के उदाहरण के रूप में पूर्व उदाहरण 'निश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि पद्य द्रष्टव्य है। इस पद्य में अन्धपद मुख्य अर्थ में बाधित होकर मलिनता-रूप अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा और मलिनता के अतिशय की प्रतीति व्यंजना द्वारा करता है।

स एव गुणीभूतः पदप्रकाश्यो यथा—

'कर्त्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणादीपनः सोऽभिमानी,
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः।
राजा दुःशासनादे र्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्,
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥

अत्र एते वराकाः दासभावं गताः किं करिष्यन्ति अस्मदेकशरणाः परिभविष्यन्ति इत्यादि द्यूतकाले भवद्भिश्चिन्तितमासीन्नास्माकं विस्मृतम्। तत्र काचित्प्रक्रिया निर्व्यूढा इत्यादिकं तमर्थमभिव्यज्य सर्वैरेवकर्त्ताद्यूतच्छलानामित्यादिभिर्वाच्य एवार्थे विश्रम्यते।

अभिधा एवं लक्षणा द्वारा प्रतीत होने वाला यह व्यंग्य अर्थ कभी प्रधानरूप से विवक्षित होता है और कभी वह गुणीभूत होता है अर्थात् अप्रधान; अतएव गौण होकर रहता है। पूर्व दिये गये उदाहरणों में वह व्यंग्य अर्थ प्रधानरूप से विवक्षित है। उसके गुणीभूत होने की स्थिति में पदप्रकाश्यव्यंग्य इस उदाहरण में द्रष्टव्य है।

'जुए में अनेकशः छल करने वाला, लाख के बनाए हुए हमारे निवासभूत घर का जलाने वाला, वह अभिमानी, द्रौपदी के केश सहित उत्तरीय अथवा शिर पर रखा जाने वाला उत्तरीय खीचने में पटु, पाण्डव जिसके दास हैं, तथा दुःशासन आदि का राजा अर्थात् दुःशासन आदि बली किन्तु दुर्मति जिसका आदेश मानते हैं, सौ भाइयों में ज्येष्ठ तथा अङ्गराज कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है? तुम लोग बोलो (बतलाओ), हम दोनों क्रोध पूर्वक उसे देखने के लिए नहीं आये हैं।''

इस पद्य में 'ये बेचारे (पाण्डव) अब दास हो गये हैं, हमारा क्या कर सकेंगे, (सर्वस्व हार कर) एक मात्र हमारी शरण में होने से अब ये तिरस्कृत होंगे

इत्यादि आप लोगों ने जुए के समय में सोचा था, यह हमें अब तक भूला नहीं है, उस समय आप लोगों ने जो कुछ किया था वह हमें भूला नहीं है, इत्यादि अर्थ की व्यंजना से प्रतीति होती हैं। इस व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर 'द्यूत के समय छल करने वाले' इत्यादि वाक्यों से वाच्य 'दुर्योधन का पता दें' इस वाच्य अर्थ में ही विवक्षा की विश्रान्ति होती है।

वाक्यप्रकाश्यो यथा:—

वाणीर कुडङ्गोड्डी सउणि कोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥
[वानीर कुञ्जोड्डीन शकुनि कोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृतायाः वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥]

अत्र दत्तसङ्केतः पुरुषो वानीरलतागृहं प्रविष्टः इति व्यंग्यमवगमय्य वाच्योऽर्थः स्वप्राधान्ये नास्ति। न चैवमभिधायाः लक्षणाया वा कश्चिदवसर इति भिन्नमेव ध्वननम्।

वाक्यप्रकाश्यगुणीभूतव्यंग्य :—

"वेतस् कुञ्ज से उड़े हुए पक्षियों के कोलाहल को सुनती हुई, घर के कामों में लगाई हुई वधू के अङ्ग-अङ्ग व्यथित हो रहे हैं।"

इस पद्य में 'जिस पुरुष को वेतस् के कुञ्ज के बीच में स्थित गृह में मिलने का संकेत दिया था, वह पुरुष वहाँ (वेतस्-कुञ्ज-गृह में) प्रवृष्ट हुआ है' इस व्यंग्य अर्थ का बोध कराकर वाच्य अर्थ स्वयं प्रधान रूप से अवस्थित नहीं है। अर्थात् वाच्य अर्थ उस व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा अप्रधान रूप से अवस्थित हो रहा है। इस प्रकार यहाँ अभिधा अथवा लक्षणा के प्राधान्य का अवसर न होने से उससे भिन्न व्यञ्जना का प्राधान्य है; जिसे ध्वनि या ध्वनन कहते हैं।

ननु यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति व्यङ्ग्याभिमतोऽपि तात्पर्यात्कथं न वाच्यः। इह सर्वाण्येव कारकाणि कारकत्वात्सव्यापाराणि इति साध्यायमानान्यतो भूतभव्यसमुच्चारणे 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति 'अदग्धदहनन्यायेन यावदविहितं तावद् विधीयते' इति क्वचित्कारकपदार्थोऽपि विषयो भवति। यथा 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' इति। एवं 'पूर्वोधावति, इत्यपरार्थेऽपि तात्पर्यं स्यात्।

अन्वितः पदार्थोऽभिहितान्वये अन्वितमात्रं त्वन्विताभिधाने। तत्रैव संकेतोपपत्तेः अन्वितविशेषस्तूभयमतेऽप्यवाच्य एव। एवं च वाच्यत्वे का वार्त्ता वाच्यविपरीतातमनो व्यङ्ग्यस्य।

का० प्र० येऽप्याहुः—

"शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥
अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्यावबुध्येत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥"

इति प्रतिपादितदिशा 'देवदत्त ! गामानय' इत्यादावुत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगे देशाद् देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति अनेनास्माद् वाक्यादेवं विधोऽर्थः प्रतिपन्न इति तच्चेष्टयानुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालः तत्र व्युत्पद्यते परतः 'चैत्र ! गामानय' 'देवदत्ताश्वमानय' 'देवदत्त ! गां नय' इत्यादि वाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव संकेतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः, नतु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानीति निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः संकेतगोचरः, तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः। तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेताविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यान्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतीयते तत्र दूरे अर्थान्तरभूतस्य 'निश्शेषच्युते'त्यादौ विध्यादेश्चर्चा ।

अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये, पदार्थान्तरेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने, अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एवेत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः ।

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकार्थानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति, तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वम् । ज्ञापकत्वं तु अज्ञातस्य कथम्, ज्ञातत्वं च संकेतेनैव स चान्वितमात्रे । एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकार्थानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्त इत्यविचारिताभिधानम् ।

ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्य-

१. काव्य प्रकाश पञ्चम उल्लास पृ० १५६-१७२

वाचो युक्तेः देवानांप्रियाः। तथाहि 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियाऽभिनिर्वर्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधीयते। यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरतः सिद्धे 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं, हवनस्यान्यतः सिद्धेः, 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्।

क्वचिदुभयविधिः, क्वचित् त्रिविधिरपि। यथा 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा। ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं, न तु प्रतीतिमात्रे। एवं हि 'पूर्वो धावति' इत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित् तात्पर्यं स्यात्। यत्तु 'विषं भुंक्ष्व मा चास्य गृहे भुंक्था' इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यमित्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इत्युच्यते, तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः। न चाख्यातपदवाच्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति विषभक्षणादपि दुष्टमेतद् गृहे भोजनमिति 'सर्वथा मास्य गृहे भुंक्था इति उपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम्।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थोऽवगम्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, तत्कथं 'ब्राह्मण! पुत्रस्ते जातः' 'कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षविषादादीनामपि न वाच्यत्वम्। कस्माच्च लक्षणा, लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधा व्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां परदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षाद्' इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यंग्यत्वम्।

किञ्च 'कुरु रुचिम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्त्तिनि कथं दुष्टत्वम्। नह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेत्येवमाद्यमपरित्याज्यं स्यात्।

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यंग्यव्यंजकभावो नाभ्युपेयते, तदासाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्। न चानुपपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात्। वाच्यवाचकभावातिरेकेण व्यंग्यव्यंजकताश्रयणे तु व्यंग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवोचित्येनोपपद्यत एव बिभागव्यवस्था। 'द्वयंगतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादीनां काव्यानुगुणत्वम्।

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान्प्रतिपत्तॄन् प्रत्येकरूप एवेति नियतोऽसौ। नहि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरण-वक्तृ-प्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्क' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यंग्योऽर्थस्तत्र प्रतिभाति।

वाच्य व्यङ्ग्ययोः 'निश्शेषे'त्यादौ निषेधविध्यात्मना, 'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादौ शान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण, 'कथमवनिप! दर्पो यन्निशातासिधारा' इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्द शब्दैकदेश तदर्थ-वर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दार्थशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योः करणात्कार्यस्य, 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ प्रदर्शित नयेन संख्यायाः, 'कस्स वा ण होई रोसो' इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि—"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" इति।

वाचकानामर्थापेक्षा, व्यञ्जकानां तु न तदपेक्षत्वमपीति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्। किञ्च 'वाणीरकुडुङ्गे'त्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूप एव यत्र विश्राम्यति, तत्र गुणीभूतव्यंग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बताम्।

ननु 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति, 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते, विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति, तदवगमश्च शब्दायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम। उच्यते। लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव। न खलु मुख्येनार्थेनानियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते। प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्ध अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते।

न च 'अत्ता एत्थ णिमज्जई' इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः। तत् कथमत्र लक्षणा ? लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयणीयमिति प्रतिपादितम्। यथा च समयसव्यपेक्षा अभिधा, तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसव्यपेक्षा लक्षणा। अतएवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः। न च शब्दानुसार्येव अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरिति अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्तिनो व्यंजनध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव। तत्र 'अत्ता एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः। 'कस्य वा ण होई रोसो' इत्यादावनियतसम्बन्धः। 'विवरोअ रए लच्छी' इत्यादौ सम्बन्धसम्बन्धः। अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते। तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः समयः। तेन पद्मस्य संकोचः। ततो ब्रह्मणः स्थगनम्। तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेनानियन्त्रणं निधुवनविलसितम्।

अखण्डबुद्धि निर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यार्थः, वाक्यमेव च वाचकमिति येऽप्याहुः तैरपि अविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पनाऽवश्यं कर्त्तव्या[२] एवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यंग्य एव।

वाक्यार्थमीमांसक मीमांसकों की मान्यता है कि 'शब्द जिसकेलिए प्रयुक्त होता है, वही शब्दार्थ है' अतः इस सिद्धान्त के अनुसार कवि के विवक्षित (अभिप्रेत) व्यंग्य अर्थ का भी तात्पर्य शक्ति की सहायता से बोध हो जाता है, ऐसा क्यों न माना

---

१. ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युः निरर्थकाः। वाक्यपदीयम् २.१४.
प्रतिवर्णमसंवेद्यः पदार्थप्रत्ययो यथा ।
पदेष्वेवमसंवेद्यं वाक्यार्थस्य निरूपणम् ॥ वही २.६१.
पृथङ् निविष्टतत्त्वानां पृथगर्थानुपातिनाम् ।
इन्द्रियाणां यथाकामं ऋते देहान्नकल्पते ।
तथा पदानां सर्वेषां पृथगर्थनिवेशिनाम् ।
वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न विद्यते ॥ वही २.४२६-४२७ ॥

२. उपायाः शिक्षमाणानां बालानामपलापनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ वही १.२४०.

जाए ? क्योंकि इसको स्वीकार करने पर स्वतन्त्र व्यंजना व्यापार को मानने की अपेक्षा न रहेगी। इसका समाधान यह है कि वाक्यगत सभी कारकपदवाच्यकारक क्रिया युक्त होते हैं, इस प्रकार विधिवाक्य के सभी अंश कारक और क्रिया साध्यरूप हुए। इनका एकान्वय करने के लिए वहीं यह भी स्वीकार किया जाता है कि 'भूत' अर्थात् पूर्व विधि वाक्य से सिद्ध 'भव्य' अर्थात् साध्य का निर्देश एक साथ होने पर भूत (सिद्ध) अर्थ भव्य (साध्य) अर्थ की सहायता अर्थात् उसकी कर्तव्यता का बोध कराने के लिए उपदिष्ट होता है। इस प्रकार 'अदग्ध दहन न्याय अर्थात् जो नहीं जला है उसे ही जलाया जा सकता है, जो जल चुका है उसे पुनः नहीं जलाया जा सकता, इस सिद्धान्त के अनुसार 'पूर्व वाक्यों से जिस अर्थ का विधान नहीं हो सका है, केवल उस अर्थ का विधान ही नवीन विधिवाक्य से विवक्षित होता है; और इस रूप में कहीं कहीं क्रिया विवक्षित न होकर कारक ही विवक्षित होता है, क्योंकि क्रिया-अर्थ पूर्व विधिवाक्य से प्राप्त है। उदाहरणार्थ 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' वाक्यों में हवन-क्रियारूप अर्थ का विधान 'स्वर्गकामो जुहुयात्' वाक्य से हो चुका है, अतः इन वाक्यों में हवन क्रिया का साधन दही पदार्थ और दूध पदार्थ है, इतना ही वाक्यार्थ होता है। यही कारण है कि कहीं कहीं 'पूर्वो धावति' वाक्य में कदाचित् पूर्व अर्थ की पूर्व वाक्य से प्राप्ति होने पर केवल 'धावति' अर्थात् दौड़ता है, अर्थ में तात्पर्य होगा ऐसी स्थिति पूर्व अर्थ की विवक्षा न होने पर अपर अर्थ में भी तात्पर्य हो सकता है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है, तथा अन्विताभिधानवाद में तो केवल अन्वितमात्र ही वाच्यार्थ होता है। इस प्रकार दोनों ही सम्प्रदायों में अन्वितविशेष अर्थ भी वाच्य न हो सकेगा। इस स्थिति में फिर यह कहना कैसे उचित होगा कि वाच्य से भिन्न स्वरूप वाला व्यङ्ग्य अर्थ भी वाच्य हो सकता है।

न तु व्यंग्यमनुमेयमिति शक्यं वक्तुम्। नहि वाच्यव्यंग्ययोः प्रतिबन्धग्रहे किञ्चित्प्रमाणं क्रमते। प्रकरणादिसामग्रीमन्तरेण हि न व्यङ्ग्यम्। न च सा प्रमाणगोचरा। व्यङ्ग्यवादिनां त्वदोषः। एवं भूतायां प्रमाणैरप्रतिपन्नायां हि सामग्र्यामुपपत्तिमनपेक्ष्यापि समुदयमाना प्रतीतिः केन निह्नोतुं शक्यते इति सिद्धमभिधातात्पर्यलक्षणाव्यापारातिरिक्तं ध्वननम्। एतच्चान्यत्र विस्तरेण विचारितमिति संक्षेपेणेहोक्तमिति शिवम्।

इति निखिलविपश्चिच्चक्रवर्त्तिश्रीराजानकमम्मटाचार्यविरचितः
शब्दव्यापारविचारः समाप्तः।

का० प्र० ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात्। एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गात् लिङ्गिनि ज्ञानं यदनुमानं तद्रूपः पर्यवस्यति। तथाहि—

'भम धम्मिअ ! वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोदाणइ कच्छकुडुङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥'

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरी तीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति। यद्यद् भीरुभ्रमणं तत्तद् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्। गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।

अत्रोच्यते-भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवम्भूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात्। न च पुंश्चलीवचनस्य प्रामाण्यमस्ति, अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

तथा 'निश्शेषच्युते'त्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति। अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि। व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्। एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशत इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तददूषणम्[1]।

व्यंग अर्थ को अनुमेय अर्थात् अनुमानगम्य भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि अनुमान से साध्यरूप अर्थ का बोध तभी होता है, जब हेतु और साध्य अनिवार्यतः सहचरित हों अर्थात् उनमें व्याप्ति हो; किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हेतु के रूप में ग्राह्य वाच्य एवं साध्य के रूप में व्यवहार्य व्यंग्य अर्थ के बीच नियत सहचार अर्थात् व्याप्ति रहने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। व्यंग अर्थ की प्रतीति प्रकरण आदि सामग्री के बिना नहीं होती, तथा प्रकरण आदि सामग्री प्रमाण से नियत-प्रतीत नहीं है; अतः उससे अनुमान किया जासकना संभव नहीं है। किन्तु व्यङ्ग्यवादियों के पक्ष में यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि व्यंग अर्थ की प्रतीति के लिए हेतु के सदृश प्रमाणसिद्ध नियत-सहचारी (व्याप्तिविशिष्ट) साधक की अपेक्षा नहीं होती। इतना ही नहीं अनेक बार

---

१. काव्यप्रकाश पञ्चम उल्लास पृ० १७२-१७५

तो प्रमाणों से अप्रतिपादित साहचर्य वाले अर्थों से अन्य अर्थों की अर्थात् व्याप्ति रहित साधन की भी अपेक्षा बिना किये व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है, उस स्थिति में उसका अपह्नव कर सकना अर्थात् उसकी उपेक्षा कर सकना संभव नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अभिधा तात्पर्य और लक्षणा व्यापार से भिन्न ध्वनन अर्थात् व्यंजना नामक अन्य शब्द व्यापार अवश्य है। इस विषय की चर्चा विस्तार पूर्वक अन्यत्र अर्थात् काव्यप्रकाश में की जा चुकी है, अतः यहाँ संक्षेप में ही चर्चा की गयी है।

समस्त विद्वानों में चक्रवर्ती श्री राजानक मम्मटाचार्य विरचित
शब्दव्यापारविचार समाप्त हुआ।

उन्नाव मण्डलान्तर्गत करोवन ग्राम निवासी पं० लक्ष्मणप्रसाद अवस्थी के पौत्र, योगिराज पंडित प्रवर श्री रविनाथ अवस्थी के पुत्र विद्यावारिधि डाक्टर ब्रह्ममित्र अवस्थी कृत शब्दव्यापारविचारव्याख्या संपूर्ण हुई।

परिशिष्ट—१

उद्धरण सूची

	पृष्ठ
अत्ताएत्थ णिमज्जइ	३०
अभिधेयाविनाभूत	११
अभिधेयेन सम्बन्धात्	२७
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते	१४
कर्त्ताद्यू तच्छलानाम्	३१
दुर्वाराः मदनेषवः	१७
दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि	१६
धन्यासि या कथयसि	१५
पृथुरसि गुणैः	२८
प्राप्तश्रीरेष कस्मात्	१६
भुवनाभयदानदक्षः	१५
रविणा हृतसौभाग्यः	२३
वर्षे समस्त एवैकः	२७
वाणिजअ हत्थिदन्ता	३०
वाणीरकुडङ्गोड्डीण	३२
स पुरुषः स च जीवति	२३

—००—

परिशिष्ट—२

व्यञ्जना व्यापार

आधुनिक भाषावैज्ञानिक भले ही भाषाविषयक अध्ययन को वर्त्तमान युग अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी की देन कहने का दावा करें किन्तु इस तथ्य को कभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिस प्रकार भाषा विज्ञान की एक शाखा पदविज्ञान विषयक अध्ययन भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल में प्रारम्भ हो चुका था जिसका पूर्ण व्यवस्थित रूप हमें पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्राप्त होता है, जिसे आज भी एतद्विषयक मानवीय प्रतिभा का चरम विकास स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार अर्थ विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीय मनीषियों ने पर्याप्त चिन्तन अत्यन्त प्राचीन काल में प्रारम्भ किया था, जिसके एक व्युत्पत्तिमूलक प्रकार का व्यवस्थितरूप यास्क का निरुक्त है, जिसमें उनसे भी पूर्व अन्य चौदह निरुक्तकारों के संकेत प्राप्त होते हैं, और दूसरे अर्थमीमांसामूलक प्रकार का संकेत मीमांसासूत्र न्यायसूत्र इत्यादि में प्राप्त होते हैं तथा कालान्तर में मीमांसा सूत्र के भाष्यकार शवरमुनि, वार्त्तिककार कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुवर्त्ती प्रभाकर मिश्र आदि के ग्रन्थों में इस विषय का विस्तृत विवेचनप्राप्त होता है; जिसकी चर्चा अभिधावृत्त मातृका एवं वृत्ति वार्त्तिक की भूमिका में द्रष्टव्य है।

इस परम्परा में अर्थ मीमांसा विषयक यह चिन्तन दो प्रकार से किया गया है, प्रथम प्रकार में वाक्यार्थ बोध की प्रक्रिया पर विस्तृत विचार हुआ है, इसमें वर्ण सार्थक हैं या पद अथवा वाक्य ? यदि पद अर्थवान् हैं, तो उनसे वाक्यार्थबोध किस प्रकार होता है ? प्रत्येक पदार्थ की प्रतीति होकर पदार्थों के अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है ? अथवा पद ही परस्पर अन्वित रहते हैं एवं अन्वित पदसमष्टि से वाक्यार्थ बोध होता है ? साथ ही पदों से अर्थ की प्रतीति का स्वरूप क्या है ? पदार्थ जातिरूप है, या व्यक्तिरूप अथवा जात्यादि रूप अर्थात् जाति व्यक्ति गुण क्रिया एवं यदृच्छा रूप अथवा अतद्व्यावृत्तिरूप (अपोहरूप) ?[1]

द्वितीय प्रकार के अध्ययन में पद अथवा वाक्य से प्रगट होने वाले अर्थों की प्रत्यायक शक्तियों पर विचार किया गया है। इस प्रकार की अध्ययन परम्परा में सर्व

१. इस सन्दर्भ में संक्षिप्त परिचय अभिधावृत्तमातृका की भूमिका पृ० ६—१२ में द्रष्टव्य है।

प्रथम केवल अभिधा शक्ति को ही स्वीकार किया गया था, किन्तु कालान्तर में केवल एक अभिधा शक्ति से समग्र वाक्यार्थ प्रतीति की संगति न देखकर वाक्यार्थ मीमाँसक आचार्यों ने अविनाभाव सम्बन्ध, अर्थापत्ति, आदि का आश्रयण लेना चाहा। किन्तु अविनाभाव सम्बन्ध या अर्थापत्ति आदि क्योंकि शब्द के व्यापार नहीं माने जाते, तथा जब तक अर्थप्रतीतिरूप कार्य एवं प्रत्यापक (कारण) शब्द के मध्य कारणगत व्यापार को स्वीकार न किया जाएगा तब तक दोनों के बीच (शब्द एवं अर्थ प्रतीति के बीच) कार्यकारणभाव की व्याख्या करना सम्भव नहीं हो सकता; अतः अविनाभाव आदि के स्थान पर शब्द में अभिधा के अतिरिक्त गुणवृत्ति या लक्षणा नामक व्यापार को स्वीकार किया गया है। मुकुलभट्टकृत अभिधावृत्त मातृका में लक्षणा को गौण व्यापार के नाम से ही स्वीकार किया गया है। काव्यशास्त्र के आचार्यों में काव्यालंकारसारसंग्रहकार उद्भट ने भी रूपक अलंकार के प्रसंग में गुणवृत्ति की चर्चा की है।[1]

गुणवृत्ति अथवा लक्षणा पद का व्यापार है। अर्थ प्रतीति के लिये यह व्यापार उस समय व्यापृत होता है, जब पद के मुख्य अर्थ का अन्वय वाक्यगत अन्य पदार्थों के साथ संगत न हो रहा हो। इस स्थिति में अभिधा से प्रतीत पदार्थ से सम्बद्ध अर्थान्तर का ग्रहण किया जाता है—जिसका विस्तृत विवेचन अभिधावृत्तमातृका की भूमिका में किया जा चुका है।[2]

सामान्य लोक व्यवहार एवं काव्यगत वाक्यों से प्रतीत होने वाला अर्थ अनेक बार अभिधेय एवं लक्ष्य अर्थों से इतना अधिक भिन्न होता है कि उसके प्रत्यायक व्यापार के अनुसन्धान में आचार्यों को एक बार पुनः प्रवृत्त होना पड़ा। काव्यगत रस की निष्पत्ति के सन्दर्भ में भले ही भट्टलोल्लट श्रीशंकुक और भट्टनायक ने अपनी-अपनी व्याख्याएं दीं किन्तु वे व्याख्याएं सहृदय जनों को स्वीकृत न हो सकीं। फलतः इस दिशा में चिन्तन का क्रम जारी रहा और अन्त में आचार्य अभिनवगुप्त ने एक अन्य व्यञ्जना नामक व्यापार का आश्रय कर रसनिष्पत्ति की व्याख्या प्रस्तुत की। अभिनव गुप्त की यह व्याख्या प्रकारान्तर से आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनिवाद की व्याख्या बन गयी। इस व्यञ्जना सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए आचार्य महिमभट्ट ने प्रबल तर्कों से उसका खण्डन किया और उसके स्थान पर अनुमितिवाद की स्थापना करनी चाही अथवा उन्होंने उस व्यञ्जनावाद (ध्वनिवाद) को तर्कपूर्ण शैली में अनुमितिवाद

१. श्रुत्या सम्बन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्ति प्रधानेन …। का० सा० सं० १.११.

२. अभिधावृत्तमातृका पृष्ठ १२—२०.

के नाम से प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया. किन्तु परवर्त्ती आचार्यों को वह प्रक्रिया स्वीकार्य नहीं हुई। आचार्य मम्मट ने न केवल महिमभट्ट के काव्यानुमितिवाद की अपितु मीमांसाशास्त्र के अन्य पक्षों की भी समीक्षा करके व्यञ्जनावाद की स्थापना काव्य प्रकाश में प्रबलतर्कों से की। जिसके फलस्वरूप यह व्यञ्जनावाद परवर्त्ती आचार्यों द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो गया।

व्यञ्जनावाद की सर्व प्रथम चर्चा अथवा उद्भावना कब और किसने की यह कह सकना कठिन है, किन्तु इतना तो निर्विवादरूप से कहा जा सकता है कि सिंहल-देशीय अनुराधपुर के राजा शिलामेघसेन ने दण्डी के काव्यादर्श पर विरचित स्वभाषालंकार (सियवसलकुर) में सप्तम शताब्दी में प्रतीयमानार्थ (व्यंग्यार्थ) को स्वतन्त्र अर्थ के रूप में स्वीकार किया था।[1] इतना ही नहीं शिलामेघसेन द्वारा दण्डी के—

"इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते॥"[2]

का स्वभाषालंकार में किया गया रूपान्तर (जिसका पुनः संस्कृत में शब्दानुवाद निम्न प्रकार किया गया है।)—

इह व्यक्तानुव्यक्तानां व्यक्तानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा वर्त्तते॥[3]

यदि अविकल माना जाए तो यह कहना अनुचित न होगा कि दण्डी ने भी अनुशिष्ट पद द्वारा व्यञ्जक पद का कथन करते हुए व्यंग्यार्थ को स्वीकार किया है। इतना होते हुए भी काव्यप्रकाश की रचना के पूर्व व्यंग्यार्थ या व्यञ्जना व्यापार की पूर्ण प्रतिष्ठा न हो सकी थी। आचार्य मम्मट की लेखनी का बल पाकर व्यंजना व्यापार वाक्यार्थ के विचारकों के मध्य सदा के लिए प्रतिष्ठित हो गया है। व्यञ्जना व्यापार की प्रतिष्ठा के लिए आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं :—

१. व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार करना आवश्यक इसलिए है कि काव्य की आत्मा रस आदि की प्रतीति व्यंजना के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यंजना के अतिरिक्त केवल दो अन्य शब्द व्यापार स्वीकार किये जाते हैं, अभिधा और लक्षणा। रस आदि की प्रतीति अभिधा व्यापार से नहीं हो सकती। क्योंकि यदि अभिधा व्यापार से रसादि की प्रतीति स्वीकार करना चाहेंगे तो प्रश्न होगा कि रसादि की प्रतीति उनके

---

१. वाच्यप्रतीयमानौ द्वौ शब्दस्यार्थौ व्यवस्थितौ।
साक्षात्प्रतीतो वाच्यार्थः परश्चार्थं प्रतीतितः॥ सियबसलकुर ४८८।

२. काव्यादर्श १-३. ३. सियबसलकुर ४

वाचक शब्दों से होती है ? अथवा विभावादि के बोधक शब्दों से ? हम स्पष्ट देखते हैं कि रस आदि के वाचक शृङ्गार आदि पदों का प्रयोग होने पर भी रसादि की प्रतीति नहीं होती और प्रयोग न होने पर भी विभावादि की योजना रहने पर होती है, तथा विभावादि के बोधक पद रस के वाचक नहीं होते। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शृंगार आदि वाचक पदों द्वारा अभिधा व्यापार से रसादि की प्रतीति नहीं हो सकती। विभाव आदि के बोधक पद भी अभिधा व्यापार से तत् तत् पदार्थ का बोध कराते हैं, रसादि का नहीं। अतः विभावादि भी रसादि के अभिधायक नहीं हो सकते। रसादि की प्रतीति लक्षणा व्यापार से भी स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि लक्षणाव्यापार वहीं होता है, जहाँ मुख्य अर्थ का बाध, मुख्य-अर्थ से अन्य अर्थ का सम्बन्ध तथा रूढ़ि या प्रयोजन में अन्यतम विद्यमान हो। क्योंकि विभावादि की योजना रहने पर मुख्य अर्थ का बाध आदि के बिना ही रसादि अर्थ की प्रतीति होती है, अतः रसादि की प्रतीति में लक्षणा व्यापार को स्वीकार करना उचित नहीं है; फलतः रसादि प्रतीति के लिए शब्द के व्यापार अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न व्यंजना नामक व्यापार को अनिवार्यतः स्वीकार करना होगा।[1]

२. व्यंजना व्यापार को मानना इसलिए भी आवश्यक है कि 'अभिधा से अतिरिक्त लक्षणा व्यापार को स्वीकार तभी किया जाता है जब अर्थविशेष की प्रतीति के लिए लक्षक शब्द का प्रयोग करने में कोई प्रयोजन विशेष हो। इस स्थिति में मुख्य अर्थ चाहे अर्थान्तर में संक्रमित हो, चाहे अत्यन्त तिरस्कृत, किन्तु वह वस्तुरूप अर्थ जो कि लक्षणा का प्रयोजन होता है, व्यंग्य ही हुआ करता है। उस प्रयोजन-रूप अर्थ की प्रतीति अभिधा या लक्षणा के द्वारा हो ही नहीं सकती। दूसरे शब्दों में रसादि से भिन्न काव्यार्थ के एक अन्य प्रकार वस्तुध्वनि के दो भेद अर्थान्तरसंक्रमित वस्तुध्वनि एवं अत्यन्ततिरस्कृत वस्तुध्वनि की प्रतीति भी केवल अभिधा या लक्षणा के द्वारा नहीं हो सकती। उनके लिए व्यंजना व्यापार मानना आवश्यक है। वह व्यंजना ही मूलतः लक्षणा का कारण बनती है।[2]

---

१. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादि शब्देन शृङ्गारादि शब्देन वाभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्ते-स्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधान-द्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनासौ व्यङ्ग्य एव; मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुन-र्लक्षणीयः। का० प्र० पृ० १५३।

२. अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं बिना लक्षणैव न भवतीति प्राक्प्रतिपादितम्।

३. व्यंजना व्यापार को स्वीकार करना इसलिए भी आवश्यक है कि शब्द-शक्तिमूलध्वनि के उदाहरणों में अभिधा संयोग विप्रयोग आदि अभिधा के नियामकों से नियन्त्रित हो जाती है, फलतः अर्थान्तर की प्रतीति अभिधा व्यापार से नहीं हो सकती, अतः उस अर्थान्तर की प्रतीति के लिए व्यंजना व्यापार को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है । इसके साथ ही प्रतीत अर्थान्तर एवं अभिधेयार्थ के बीच असम्बद्धार्थकता के निवारक उपमा आदि अलंकारों की प्रतीति भी व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकती ।[1] इसलिए भी व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार करना आवश्यक है ।

४. अर्थशक्तिमूला व्यंजना के उदाहरणों में प्रतीत होने वाले अर्थविशेष की प्रतीति के लिए भी व्यंजनावृत्ति का मानना आवश्यक है । अर्थ की प्रतीति के लिए चाहे कुमारिलभट्ट स्वीकृत अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करें, चाहे प्रभाकर प्रवर्तित अन्विताभिधानवाद को, अर्थशक्तिमूलव्यंग्य अर्थ की प्रतीति की व्यवस्था नहीं बन पाती । क्योंकि कुमारिलभट्ट के अन्विताभिधानवाद के अनुसार जातिरूप पदार्थ की अभिधा व्यापार द्वारा प्रतीति होती है, उसके अनन्तर आकाँक्षा योग्यता और सन्निधि की सहायता से उनमें (पदार्थों में) परस्पर अन्वय होता हैं, जिसके फलस्वरूप सामान्य से भिन्न विशेषरूप अन्वित वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । क्योंकि इस पक्ष में वाक्यार्थ पदार्थ से भिन्न होता हैं, एवं अभिधा व्यापार से पदार्थ की प्रतीति होती है, विशेषरूप वाक्यार्थ की नहीं । इस प्रकार जब वाक्यार्थ ही अभिधा से प्रतीत नहीं है, ऐसी स्थिति में अतिविशेषरूप व्यंग्य अर्थ अभिधेय हो सके, इसका प्रश्न नहीं उठता ।[2]

आचार्य प्रभाकर के अनुयायी अन्विताभिधानवादियों के अनुसार क्योंकि व्यक्ति भाषा को प्रयोग के माध्यम से ही सीखता है; तथा भाषा में प्रयोग वाक्यों का ही होता है, अनन्वित पदों का नहीं; अतः इस पक्ष में स्वतन्त्र पदार्थ का ग्रहण नहीं हुआ करता, अपितु अन्वितपदार्थरूप वाक्यार्थ का ही ग्रहण होता है, अतः यह स्वीकार किया जाता है कि वाक्य में स्थित पदों का अन्वित पदार्थों के साथ ही संकेत ग्रहण होता है । फलतः इस पक्ष में वाक्या का अर्थ केवल विशिष्ट वाक्यार्थरूप ही हो सकता है । यद्यपि अनेक वाक्यों में प्रयुक्त पदों को सुनकर प्रत्यभिज्ञा के बल से यह वही पद है, यह बोध होता

---

१. शब्दशक्तिमूले तु अभिधायाः नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् । वही पृ० १५५

२. अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेतः कर्त्तुं न युज्यते इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् ॥ वही पृ० १५५

है, इसी प्रकार अनेक वाक्यार्थों में उपलब्ध अर्थ के लिए भी प्रत्यभिज्ञा के फलस्वरूप 'ये वही अर्थ हैं' केवल पदार्थान्तर से अन्वित हैं, इतना ही अन्तर है, ऐसा बोध होता है; फलतः अन्वित पद पदार्थों का ग्रहण होता है, तथापि वह संकेतित अन्वित पदार्थरूप वाक्यार्थ सामान्यावच्छादित विशेषरूप ही हो सकता है; फलतः जहां वाक्यार्थ के अन्तर में स्थित पदार्थभूत अतिविशेषरूप अर्थ भी असंकेतित होने के कारण वाच्य नहीं है, वहाँ अर्थान्तरभूत व्यंग्य अर्थ अभिधेय हो सकेगा यह कल्पना करना भी निरर्थक है।[1] इस प्रकार अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद दोनों ही पक्षों में वाक्यार्थ पदार्थ से भिन्न सिद्ध होता है, अतः जब वाक्यार्थ की ही अभिधेयता नहीं बन पाती, तब व्यंग्य अर्थ अभिधेय हो सकेगा, यह कैसे कहा जा सकता है।

इस सन्दर्भ में 'कार्य को देखकर कारण की कल्पना की जा सकती है' [नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते] इस मान्यता के अनुसार भी समाधान खोज पाना संभव न होगा। क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा कि इस अर्थ प्रतीति के प्रसंग में निमित्तत्व क्या है, कारकत्व या ज्ञापकत्व? शब्द क्योंकि प्रकाशक है, अतः शब्दगत निमित्तत्व को कारक नहीं कहा जा सकता। उसे ज्ञापक निमित्त भी नहीं कह सकते क्योंकि ज्ञात का ही ज्ञापन हो सकता है, अज्ञात का नहीं। ज्ञातता का ग्रहण संकेत से ही हो सकता है, तथा संकेत केवल अन्वितमात्र में है, व्यंग्यार्थं में अथवा विशेषभूत पदार्थ में नहीं; इस प्रकार जब तक निमित्त का नियतनिमित्तत्व निश्चित न हो, तब तक नैमित्तिक की प्रतीति ही नहीं ही सकती। फलतः निमित्तनैमित्तिकभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार 'नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जा सकती है' यह कहना ही संगत न होगा।[2]

---

१. .... इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव संकेतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः संकेतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते, व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः। तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यति विशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते, तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निश्शेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा। वही पृ० १५७–१५८।

२. यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथम्, ज्ञातत्वं च संकेतेनैव स चान्वितमात्रे, एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते इत्यविचारिताभिधानम्। वही पृ० १५८–१५९।

जिस प्रकार धनुर्धारी द्वारा छोड़ा हुआ बाण वस्त्रभेदन कवच भेदन, अङ्गच्छेदन एवं प्राणहरण का कारण होता है, यहां वस्त्रभेदन से लेकर प्राणहरण पर्यन्त बाण के ही दीर्घ दीर्घतर व्यापार स्वीकार किये जाते हैं [सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः] अथवा 'वक्ता द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है, वही उस शब्द का अर्थ है' [यत्परः शब्दः स शब्दार्थः] मीमांसकों में स्वीकृत इस मान्यता के अनुसार भी यह कह सकना संभव न होगा कि कवि या वक्ता का तात्पर्यभूत अर्थ (व्यंग्य अर्थ) भी किसी भी पद का अभिधा की सहायता से प्रगट होने वाला पदार्थ है; क्योंकि उपर्युक्त दोनों मान्यताओं की पृष्ठ भूमि के साथ ही वाक्यार्थ की प्रतीति में "भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते" मान्यता भी सहभागिनी होती है। प्रस्तुत न्याय में **भूत** पद का अर्थ है : सिद्धधर्म के वाचक कारक पदों से अभिहित अर्थ एवं **भव्य** पद का अर्थ है : साध्य धर्म अर्थात् क्रिया के वाचक पदों से अभिहित अर्थ। वाक्यार्थ की प्रतीति में पदार्थों के अन्वयकाल में भूत अर्थात् कारक पदार्थ भव्य अर्थात् क्रिया पदार्थों से अन्वित होते हुए प्रधान क्रिया के निर्वर्त्तक भिन्न-भिन्न क्रियाओं के साथ अभिसम्बद्ध होने के कारण स्वयं साध्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं, एवं 'अदग्धदहनन्याय' अर्थात् जिस प्रकार अग्नि उसे ही जलाती है, जो पहले से जल नहीं चुका है; जो जलकर भस्म हो चुका है, उसे अग्नि नहीं जलाती, इस व्यवस्था के अनुसार विधि वाक्यगत सभी पदार्थों के द्वारा केवल उन अर्थों का विधान होता है जो पूर्व विधियों द्वारा प्राप्त नहीं हैं। फलतः किसी पूर्व विधि से ऋत्विजों के प्रचरण (क्रिया विशेष के) सिद्ध होने पर 'अथ लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' अर्थात् 'इसके अनन्तर लोहित उष्णीष (पगड़ी) वाले ऋत्विज प्रचरण करते हैं' का विधान होने पर इस विधिवाक्य से केवल लोहित उष्णीषत्व ही विहित होगा; ऋत्विक्प्रचरण नहीं। इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि वाक्यों से स्वर्ग की कामना से यज्ञ का विध न होने पर 'दध्ना जुहोति' आदि वाक्यों से हवनविधि का प्रतिपादन न होकर केवल 'दधिकरणत्व' का प्रतिपादन होता है।[1] इसे और स्पष्ट करने के लिए एक

---

१. ये त्वभिधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति, तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः, तथाहि 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्त्तक स्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति, ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधीयते; यथा ऋत्विक् प्रचरणे प्रमाणान्तरात् सिद्धे 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं हवनस्यान्यतः सिद्धेः। 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्। वही पृ० १६०-१६१।

लौकिक उदाहरण ले सकते है—कुछ जुलाहे हैं, जिन्हें काम पर लगाया गया है, उनमें कुछ को वस्त्र बुनने का कार्य दिया गया है, एक अन्य समूह को दरी या कम्बल बुनते का। जिन्हें वस्त्र बुनने का आदेश दिया गया था उनमें से ही किसी को 'रक्तं पटं वय' लाल कपड़ा बुनो आदेश पुनः दिया गया। यहाँ क्योंकि वस्त्र बुनने का आदेश पहले से था और वह उस आदेश का पालन करते हुए वस्त्र बुन रहा था, अतः 'रक्तं पटं वय' आदेश में केवल बुने जाने वाले वस्त्र की रक्तता ही विवक्षित होगी। यदि यही आदेश कम्बल या दरी बुनने वाले बुनकर को दिया जाता है, तो क्योंकि वह बुनाई तो कर रहा था किन्तु वस्त्र की नहीं, अतः ऐसी स्थिति में उक्त आदेश में कर्म के रूप में वस्त्र एवं वस्त्र की रक्तता दोनों की विवक्षा होगी। किन्तु यदि कोई नवीन बुनकर आ जाता है, और उसे यही आदेश दिया जाता है 'रक्तं पटं वय' तो उस बुनकर के लिए आदेश में बुनना क्रिया वस्त्र कर्म एवं वस्त्र की रक्तता तीनों की विवक्षा होगी। इस प्रकार 'रक्तं पटं वय' वाक्य एक ही है, किन्तु प्रथम स्थल में वाक्यार्थ केवल बुने जा रहे वस्त्र की रक्तता है, द्वितीय स्थल में वाक्यार्थ वस्त्र कर्म एवं उसकी रक्तता है, तथा तृतीय स्थल में, नवीन आये हुए बुनकर के प्रति प्रयुक्त आदेश में वस्त्र एवं उसकी रक्तता के साथ ही बुनना क्रिया भी वाक्यार्थ होती हैं। यही 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' का तात्पर्य हैं। फलतः वाक्य में कभी केवल एक विधि प्रतिपादित होती है, कभी दो विधियाँ और कभी तीन या इससे अधिक।[1]

शब्द सुनने के अनन्तर उपलब्ध समस्त अर्थ में अभिधा ही व्यापार है, ऐसा स्वीकार करने पर 'ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः' वाक्य सुनने पर 'ब्राह्मण जातियुक्त व्यक्तिविशेष को पुत्र लाभ हुआ है, इस अर्थ के बोध के साथ ही वाक्यश्रवण के अनन्तर ही पुत्र लाभ होने के ज्ञान से उत्पन्न हर्ष भी वाक्य का अर्थ मानना होगा। इसी प्रकार 'विप्र ! कन्या ते गर्भिणी' वाक्य से कन्या अर्थात् अविवाहित पुत्री के गर्भवती होने के ज्ञान से ब्राह्मण को उत्पन्न खेद भी वाक्यश्रवण के समन्तर प्राप्त होने से वाक्य का ही अर्थ है, ऐसा प्राप्त होगा; अतः 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' को स्वीकार करते हुए अभिधा शब्द व्यापार की अनन्तसीमा मानना उचित नहीं है; और यदि यह मान्यता मीमांसाशास्त्र के आचार्यों को अभीष्ट होती तो वे अभिधा व्यापार की अनन्त सीमा के रहते हुए लक्षणा व्यापार को स्वीकार न करते। क्योंकि मीमांसाशास्त्र के सभी आचार्यों ने लक्षणा व्यापार को

१. क्वचिदुभयविधिः, क्वचित् त्रिविधिरपि, यथा 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा, ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यन्नतु प्रतीतिमात्रे। वही पृ० १६१।

को स्वीकार किया है, अतः अनुमान द्वारा यह स्वीकार करना उचित ही होगा कि वे अभिधा व्यापार की अनन्त सीमा नहीं मानते। उनके अनुसार अभिधा से केवल संकेतित अर्थ का ही बोध होता है, अतः अन्य वस्तु अलंकार एवं रस आदि अर्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना व्यापार मानने की आवश्यकता सिद्ध है।[1]

४. इसके अतिरिक्त व्यंजना व्यापार मानने की आवश्यकता इसलिए भी है कि 'कुरु रुचिम्' (रुचि करो) वाक्यगत दोनों पदों में क्रम विपर्यय करने पर 'रुचिं कुरु' वाक्य का स्वरूप बनता है, यहां यद्यपि अभिधा व्यापार से कर्मभूत रुचि एवं क्रियाभूत विध्यर्थ करना (करो) का बोध होना चाहिए, किन्तु अभिधेयार्थ न होने पर भी वाक्यगत चार वर्णों में से मध्यगत दो वर्णों 'चिंकु' के श्रवण मात्र से चिंकु पद के वाच्य 'स्त्री योन्यङ्कुर' अर्थ का भी भान होता है, जो कि असभ्य अर्थ हैं, अतः सहृदयजनों को ऐसे वाक्यों में दोषत्व का बोध होता है, काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भी ऐसे स्थलों में अश्लील दोष स्वीकार किया है, जबकि प्रतीयमान असभ्य अर्थ यहां पदार्थ नहीं है, और न वाक्यगत अर्थ के साथ वह असभ्य अर्थ अन्वित ही है। व्यंजना व्यापार स्वीकार करने पर ही ऐसे स्थलों में असभ्यार्थता की व्याख्या संभव है, अन्यथा नहीं। व्यंजना व्यापार न मानने पर ऐसे प्रयोग परित्याज्य न हो सकेंगे। अतः इस प्रकार के दोषों में दोषत्व की व्याख्या के लिए भी व्यंजना व्यापार को अनिवार्यतः मानना चाहिए।[2]

५. व्यंजना व्यापार को स्वीकार करना इसलिए भी आवश्यक है कि काव्यशास्त्र की परम्परा में असाधुत्व आदि को नित्यदोष स्वीकार किया जाता है एवं कष्टत्व आदि को अनित्यदोष, अर्थात् जो कष्टत्व आदि शृङ्गार रस के सन्दर्भ में दोष माने जाते हैं,[३] वे ही वीर और रौद्ररस में गुण के रूप में प्रतीत होते हैं, सहृदयजन भी दोषों की इस अनित्यता का स्पष्ट अनुभव करते हैं, कष्टविशिष्ट प्रयोग एक स्थान पर दोषरूप से और अन्यत्र गुण के रूप में तभी अवभासित हो

---

१. यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्; कस्माच्च लक्षणा, लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः।..................इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यंग्यत्वम्॥

वही पृ० १६२-१६३।

२. किञ्च 'कुरु रुचिम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्त्तिनि कथं दुष्टत्वम्? नह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरेणान्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात्।

—वही पृ० १६३।

सकते हैं, जब उनमें व्यंजकता स्वीकार की जाए। अतः व्यंजना व्यापार को अनिवार्य-रूप से स्वीकार करना होगा।[1]

६. व्यंजना व्यापार को स्वीकार करना इसलिए भी आवश्यक है कि काव्यों में पद विशेष के प्रयोग के औचित्य और अनौचित्य की व्याख्या की जा सके। उदाहरणार्थ—कुमारसंभवगत पार्वती के प्रति शिवमिलन की कामना का निषेध करते हुए ब्रह्मचारी वटु के 'द्वयंगतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः' वचनों में शोचनीयता प्रतिपादन की दृष्टि से शिव के वाचक पिनाकी पद का प्रयोग उचित नहीं है, क्योंकि पिनाक शिव के धनुष का नाम है, अतः पिनाकी पद से धनुर्धारी शिव का बोध होता है, पति का धनुर्धारी वीर होना शोचनीय न होकर श्लाघनीय होता है। यहीं 'पिनाकिनः' पद के स्थान पर 'कपालिनः' पाठ करने पर शिव अर्थ के साथ सम्पृक्त रूप से भिक्षुकभाव (कपालधारित्व) की भी प्रतीति होती है। अतः पिनाकिनः पाठको अनौचित्य दोषपूर्ण एवं 'कपालिनः' को प्रशस्त माना जाता है। क्योंकि अभिधा व्यापार से दोनों ही पदों से अन्वित शिव पदार्थ का ही बोध होता है, अतः एकत्र अनौचित्य दोष और अन्यत्र दोषाभाव की स्वीकृति की व्याख्या नहीं हो सकती।[2] व्यंजना व्यापार से अन्वित शिव अर्थ के अतिरिक्त एकत्र पिनाकधारित्व और वीर भाव की तथा अन्यत्र कपालधारित्व और भिक्षुक भाव की भी प्रतीति होती है, उस स्थिति में प्रसंगानुसार एक पदार्थ के बोधक (व्यंजक) पद के प्रयोग में अनौचित्य एवं अन्य पदार्थ के बोधक (व्यंजक) पद के प्रयोग में अनौचित्य का अभाव स्वीकार करने में कोई असुविधा न होगी, अतः व्यंजना व्यापार को अनिवार्यतः स्वीकार करना चाहिए।

---

१. द्वयंगतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः [कु० स० ५.७१] इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम्।
—वही० पृ० १६५।

२. श्रुति दुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारे ते हेया इत्युदाहृता॥ —ध्वनिकारिका २. ११.।

३. यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यंग्यव्यंजकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्। न चानुपपन्नं सर्वत्रैव विभक्ततया प्रतिभासात्, वाच्यवाचकव्यतिरेकेण व्यंग्यव्यंजकताश्रयणे तु व्यंग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यते एव विभाग व्यवस्था।
—का० प्र० १६४।

७. इसके अतिरिक्त वाच्य अर्थ सभी अर्थग्रहीता व्यक्तियों में एक रूप में प्रगट होता है, अतः वह नियत है, ऐसा कहा जा सकता है। इसके विपरीत प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ प्रकरण वक्ता श्रोता आदि के वैशिष्ट्य से भिन्न-भिन्न अर्थात् अनियत हुआ करता है। उदाहरणार्थ 'गतोऽस्तमर्कः' वाक्य का अभिधेय अर्थ तो नियतरूप से केवल यह होगा कि 'सूर्य अस्त हो गया' जबकि व्यंग्य अर्थ प्रकरण आदि की सहायता से अनेक अतएव अनियत होंगे। यथा—शत्रु पर आक्रमण का अवसर हो गया है, अभिसार का समय आ गया, अब तुम्हारे प्रिय पहुँचने ही वाले हैं, अब अवकाश का समय हो गया है अतः काम बन्द करो, सन्ध्याकालीन उपासना का अनुष्ठान कीजिए, अब दूर न जाओ, गौओं को घर में ले आओ, अब गरमी नहीं हो रही है अर्थात् धूप छट गयी है, दूकान की वस्तुएँ समेट लो, प्रिय अब भी नहीं आए' इत्यादि अनन्त प्रकार के व्यंगच अर्थ की प्रतीति यथावसर प्रकरण आदि के अनुसार होती है। प्रतीत होने वाले इस अथ भेद की व्याख्या भी व्यंजना व्यापार को स्वीकार किये बिना नहीं की जा सकती; अतः अभिधा से अतिरिक्त व्यंजना व्यापार को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।[1]

मम्मट से पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने व्यंजना के विरोधियों के तर्कों का खण्डन करते हुए प्रबल-तर्कों से व्यंजना व्यापार की स्थापना की है,[2] विस्तारभय से हम उसकी चर्चा यहां नहीं कर रहे हैं। वह यथा स्थान द्रष्टव्य है। आचार्य मम्मट द्वारा व्यंजना के समर्थन के अनन्तर व्यंजना व्यापार के विरोध का क्रम प्रायः समाप्त हो गया एवं काव्यशास्त्र में प्रधानतम व्यापार के रूप में व्यंजना व्यापार को स्वीकार किया जाने लगा।[2]

---

१. अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरण-वक्तृप्रतिपत्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसरः इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्त्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्यार्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।—वही पृ० १६५–१६६।

२. ध्वन्यालोक एवं लोचन १. ४-५।

—:•:—

परिशिष्ट—३

मम्मट का स्थिति काल

प्राचीन भारतीय विद्वानों में आत्माख्यान की प्रवृत्ति का अभाव रहा है, जिसके फलस्वरूप उन्होंने प्रायः आत्मपरिचय के सम्बन्ध में मौनावलम्बन किया है। मम्मट भी उसी कोटि के आचार्यों में है। इन्होंने भी अपने सम्बन्ध में कहीं कुछ भी निर्देश नहीं किया है। इतना होते हुए भी मम्मट के स्थितिकाल के सम्बन्ध में अनुमान करना कठिन नहीं है।

मम्मट ने काव्यशास्त्र के आचार्यों में आनन्दवर्द्धन अभिनवगुप्त एवं महिमभट्ट का नामोल्लेख पूर्वक अनुगमन अथवा खण्डन किया है, अतः मम्मट इनके अनन्तर हुए हैं इतना सुनिश्चित है। रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर संकेत नामक टीका लिखी है, अतः वे रुय्यक से पूर्ववर्त्ती है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन अभिनवगुप्त महिमभट्ट मम्मट एवं रुय्यक इत्यादि आचार्यों की परम्परा का सर्व स्वीकृत क्रम है। जहाँ तक इनकी तिथि के निर्धारण का प्रश्न है, अनेक ऐतिहासिकों ने इनकी तिथि पर विचार करते हुए अपनी मान्यता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है :—

पिटर्सन ने सुभाषितावली की भूमिका में मम्मट का समय १३०० ई० के लगभग माना है। उनका कहना है कि इन्हें जयन्त कृत काव्यप्रकाश टीका के लेखनकाल से अधिक पूर्व नहीं माना जा सकता, तथा यह समय १२९४-१३०० ई० हैं।[1]

गणपतिशास्त्री मम्मट को भोज का समकालीन मानते है, तथा ऐतिहासिकों के अनुसार भोज का शासनकाल ९९६—१०५१ है; अतः उनके अनुसार मम्मट को ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में होना चाहिए। एम० टी० नरसिंह अय्यङ्गर ने पर्याप्त विवेचन करते हुए आचार्यों का निम्नलिखित क्रम निश्चित किया है[2]—अभिनवगुप्त दशम शताब्दी का अन्तिम अंश, महिमभट्ट एकादश शतक का आदि भाग, मम्मट एकादश शतक मध्य भाग। वूह्लर ने काश्मीर रिपोर्ट में मम्मट को रुय्यक-के टीकाकार जयरथ के बाद में रखना चाहा है।[3] किन्तु जी० ए० जैकोबी ने

१. त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज ५ भूमिका पृ० ८-९।

२. रायल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल १९०८. पृ० ६५।

३. बूह्लर काश्मीर रिपोर्ट ६८।

जयरथकृत विमर्शिनी में मम्मट के उल्लेख के आधार पर इसका खण्डन किया है।[1] कालान्तर में बूह्लर ने भी अपने मत में संशोधन करते हुए पिटरसन के मत[2] को स्वीकार कर लिया था।[3]

मम्मट द्वारा उदात्त अलंकार के उदाहरण के रूप में उपस्थापित—

"मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः,
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणा।
दूराद् दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः,
यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥१॥

पद्य में भोजराज की प्रशस्ति का कथन हुआ है, अतः मम्मट को भोजराज [९९६-१०५१] के अनन्तर होना चाहिए। काव्यप्रकाश पर उपलब्ध टीकाओं में प्राचीनतम आचार्य माणिक्यचन्द्र कृत काव्यप्रकाश संकेत सबसे प्राचीन है। उन्होंने टीका की समाप्ति पर 'इत्याचार्य माणिक्यचन्द्र विरचित काव्यप्रकाश दशमोल्लास संकेतः समाप्तः।" कहते हुए स्वनाम निर्देश के अनन्तर बारह श्लोकों में संकेत टीका एवं अपने स्थितिकाल आदि का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। उन पद्यों में अन्तिम निम्न दो पद्यों में माणिक्यचन्द्र के स्थितिकाल का स्पष्ट संकेत हुआ है—

माणिक्यचन्द्राचार्येण तदंघ्रिकमलालिना।
काव्यप्रकाशसंकेतः स्वान्योपकृतये कृतः॥
रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे [११५९ ई०] मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्थितः॥ ११-१२॥

क्योंकि उत्तर भारतीय जैन परम्परा में विक्रम संवत् का ही प्रचलन रहा है अतः काव्यप्रकाशसंकेत का रचनाकाल विक्रमीय संवत् १२१६ अर्थात् ११५९ ई० सुनिश्चित है, फलतः मम्मट को निश्चित रूप से १०५१ से ११५९ के मध्यवर्ती होना चाहिए।

मम्मट के पारिवारिक इतिवृत्त के सम्बन्ध में हमें काव्यप्रकाश पर भीमसेन-कृत सुधासार टीका से पर्याप्त सूचना मिलती है। इस प्रसंग में उक्त टीका के प्रारम्भ के निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है :—

---

१. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी १८९७ पृ० २८२।
२. (क) जर्नल आफ बंगाल एशियाटिक सोसाइटी १८८३-८४।
(ख) पी० वी० काणे: इंडियन एण्टीक्वेरी XLI, पृ० २०४।
३. इंडियन एण्टीक्वेरी जनवरी १८८५

शब्दब्रह्मसनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित्केनचित्,
तद् देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् कश्मीरदेशे पुमान् ।
श्रीमज्जैयट गेहिनी सुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः,
श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाऽऽश्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन् ॥ ४ ॥
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्
शास्त्रं, सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात् ।
तद्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत्काव्यप्रकाशं स्फुटम्,
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ॥ ५ ॥
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो, को वा गुणान्वेदितुं,
शक्तः स्यात्किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः ।
श्रीमान्कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो,
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनु व्याख्याय सिद्धि गतः ॥ ६ ॥

भीमसेन कृत उपर्युक्त पद्यों से हमें निम्नलिखित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं :—

मम्मटाचार्य का जन्म काश्मीर प्रदेश में हुआ था । उनके पिता का नाम जैयट था । महाभाष्य पर प्रदीप टीकाकार कैयट एवं यजुर्वेद आदि पर भाष्य करने वाले उव्वट इनके लघुभ्राता थे । इन्होंने काशी जाकर विद्योपार्जन किया था । कैयट एवं उव्वट (इनके लघुभ्राता) ने इनके पास ही विद्याध्ययन किया था ।

मम्मट विषयक उपर्युक्त सूचना के सम्बन्ध में उव्वटकृत यजुर्वेद भाष्य के प्रारम्भ में उल्लिखित निम्नलिखित पद्यों को देखकर कुछ सन्देह भले ही हो सकता है । वे पद्य इस प्रकार हैं :—

ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य आवन्त्यामुव्वटो वसन् ।
मन्त्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राष्ट्रं प्रशासति ॥

कुछ पाण्डुलिपियों में उपर्युक्त पद्य का स्वरूप निम्नलिखित है :—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनना ।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति ॥

इन पद्यों से प्राप्त सूचनाओं का स्वरूप यह है कि—

१. उव्वट अवन्तीपुरी के निवासी थे ।

२. वज्रट उनके पिता का नाम था ।

३. उन्होंने भोजराज के शासनकाल में ग्रन्थ रचना की थी ।

मम्मट और उव्वट को सहोदर मानते हुए विचार किया जाए तो सन्देह होता है कि :—

१. मम्मट और उव्वट के पिता जैयट थे या वज्रट ?

२. उनकी जन्मभूमि काश्मीर थी या अवन्ती ?

३. उनका स्थितिकाल भोजराज के बाद का है, अथवा वे समकालीन थे ?

वामन झलकीकर ने उपर्युक्त सन्देहों का निराकरण निम्नलिखित रूप में किया है :—

१. मम्मट के सहोदर भ्राता होते हुए भी उव्वट का बज्रट के पुत्र होने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि बहुत सम्भव है जैयट के सगोत्र वज्रट ने जैयट के कनिष्ठ पुत्र उव्वट को दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार किया हो। इस प्रकार उव्वट द्वारा वज्रट पुत्र के रूप में स्वयं का उल्लेख करने पर पूर्वोक्त मान्यता में कोई विरोध नहीं रहता।[1]

वज्रट और उव्वट दोनों ही नाम काश्मीरक पद्धति के टकारान्त नाम हैं, जैसा कि हमें मम्मट जैयट कैयट उद्भट रुद्रट आदि नाम काश्मीरदेशीय व्यक्तियों के प्राप्त होते हैं; अतः उव्वट को काश्मीरी ही होना चाहिए। रही बात अवन्ती में निवास की, वह अवन्तीदेशीय राज्य के आश्रय को प्राप्त करने पर अत्यन्त सामान्य है; अर्थात् अवन्ती देश में राज्याश्रय प्राप्त करके उव्वट काश्मीर से आकर अवन्ती में ही रहने लगे हों ऐसा सम्भव है। ऐसी स्थिति में स्वयं को अवन्तिदेशीय कहना अनुचित नहीं है।[2]

३. जहां तक उव्वट द्वारा स्वयं को भोज के शासन काल में ग्रन्थ रचना की बात है, वह भी अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि भोज यह कुल की संज्ञा है, व्यक्ति की नहीं यह सुविदित है। अतः यह उल्लिखित भोज सरस्वतीकण्ठाभरणकार न होकर, तद्वंशीय कोई अन्य शासक हो सकते हैं।[3]

---

१. न च कैयटभ्रातुर्मम्मटस्य जैयटपुत्रत्वान्मम्मटानुजस्योव्वटस्यापि जैयट-पुत्रत्वेन वज्रटसूनुत्वकथनं विरुध्यते इति शंकनीयम्, काश्मीरदेशीयस्य जैयटसगोत्रस्य वज्रटाख्यस्य दत्तकपुत्रत्वेन संभावनीयतया विरोधाभावात्।

—काव्यप्रकाश प्रस्तावना पृ० ५।

२. न चैवमपि 'आवन्त्यामुव्वटो वसन्' इत्यंशविरोध इति वाच्यम्, राजा-श्रयेणाबन्त्यामपि वाससंभवात्। वही पृ० ५

३. न च भोजराजसमकालिकत्वं विरुद्धमितिवाच्यम्, भोजपदेन सरस्वती-कण्ठाभरणकृन्महाभोजकुलोत्पन्नस्य कस्यचिद् भोजस्य ग्रहणात्। भोज इति तेषां कुलस्य नामेति सर्वजनप्रसिद्धम्। वही पृ० ५

इस प्रकार वामन झलकीकर के अनुसार मम्मट के सहोदर भ्राता होते हुए भी वेद भाष्यकार उव्वट के उपर्युक्त वचनों में कोई विरोध नहीं रह जाता। वामनाचार्य के उपर्युक्त तर्कों में से प्रथम दो में तो किसी को सन्देह होना नहीं चाहिए; क्योंकि वर्त्तमान में भी हम देखते हैं कि दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार किये जाने पर वह व्यक्ति सामाजिक राजकीय एवं धार्मिक अनुष्ठान सभी दृष्टि से जन्मदाता पिता का पुत्र न होकर दत्तक के रूप में स्वीकार करने वाले व्यक्ति का ही पुत्र स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार राजकीय सेवा अथवा आजीविका के साधन प्राप्त करके व्यक्ति अपनी पितृ पैतामहिक जन्मभूमि को छोड़कर स्थायी अथवा अस्थायीरूप से अन्यत्र निवास करने लगता है, इसी प्रकार उव्वट का अवन्ती में बस जाना अत्यन्त स्वाभाविक है।

जहाँ तक तृतीय समस्या के समाधान का प्रश्न है, राजपरम्पराओं में इस प्रकार के वंशनामों का व्यवहार पर्य्याप्त मात्रा में हुआ है, अतः यह समाधान भी सर्वथा अव्यवहार्य नहीं है; तथापि इसका दूसरा समाधान यह है कि मम्मट के स्थितिकाल की पूर्व सीमा के निर्धारण में सर्वप्रमुख प्रमाण मम्मट द्वारा उदात्त अलंकार के उदाहरण में भोज का उल्लेख करना है। राजा भोज का उल्लेख होना कोई ऐसा अन्तिम प्रमाण नहीं है कि उसीके आधार पर मम्मट को भोज की मृत्यु के बाद ही रखा जाए जैसा कि अधिकांश ऐतिहासिकों ने और हमने भी पूर्व पृष्ठों में स्वीकार किया है। यह भी असंभव नहीं है कि भोजराज के सुदीर्घ शासनकाल में मम्मट और उव्वट विद्यमान रहे हों, एवं उव्वट ने भोज के शासन में रहकर वेदभाष्य किया हो। इस संभावना को स्वीकार करने पर केवल मम्मट के स्थिति काल की पूर्व सीमा में कुछ वृद्धि हो सकती है। उस स्थिति में मम्मट का स्थिति काल १००० से ११५८ ई० (भोज के शासनकाल के आरम्भ से माणिक्य चन्द्रकृत काव्यप्रकाशसंकेत के पूर्व) के मध्य मानना होगा। लगभग डेढ़ सौ वर्षों का यह अन्तराल किसी आचार्य की स्थितिकाल की संभावना के लिए अधिक विस्तृत नहीं हैं।

मम्मट अपने समय के ही नहीं साहित्यशास्त्र के क्षेत्र के सर्वाधिक प्रतिष्ठित आचार्य हैं। नागोजि भट्ट जैसे व्याकरणशास्त्र के दिग्गज विद्वान् ने काव्यप्रकाश के उद्धरण से अपनी मान्यता को पुष्ट बनाया है। मम्मटकृत काव्यप्रकाश आज भी विद्वानों में काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है, और उसका आदरपूर्वक अध्ययन अध्यापन किया जाता है। काव्यप्रकाश ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस पर समकालीन अथवा किञ्चित् उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने भी टीका करने में गौरव का अनुभव किया, और उस पर टीका करके आज के भी विद्वान् स्वयं को गौरवशाली समझते हैं। काव्यप्रकाश पर लिखी गयी टीकाओं को संकलित

किया जाए तो उसकी संख्या पचास से अधिक होगी। काव्यप्रकाश पर संस्कृत में टीका करने वाले कुछ विद्वान् निम्नलिखित हैं : जिनकी टीकायें भी किसी न किसी रूप में उपलब्ध हैं :—

१.	माणिक्य चन्द	काव्यप्रकाशसंकेत
२.	सरस्वती तीर्थ	बालचित्तानुरंजनी
३.	जयन्त भट्ट	काव्यप्रकाशदीपिका
४.	सोमेश्वर	संकेत या काव्यादर्श
५.	विश्वनाथ	काव्यप्रकाशदर्पण
६.	चक्रवर्ती, आनन्द	विस्तारिका
७.	राजानक आनन्द	सारसमुच्चय या निदर्शना
८.	महेश्वर	आदर्श
९.	श्रीवत्सलांछन	सारबोधिनी
१०.	गोविन्दठक्कुर	काव्यप्रकाशप्रदीप
११.	कमलाकरभट्ट	काव्यप्रकाश टीका
१२.	नरसिंह ठक्कुर	नरसिंहमनीषा
१३.	वैद्यनाथ	उदाहरणचन्द्रिका
१४.	भीमसेन	सुधासागर
१५.	नागोजिभट्ट	प्रदीपोद्योत
१६.	महेशचन्द्र	तात्पर्यविवरण
१७.	वामन झलकीकर	बालबोधिनी

इनके अतिरिक्त चण्डीदास वाचस्पतिमिश्र श्रीधर सान्धिविग्रहिक सुबुद्धिमिश्र विद्यासागर भास्करभट्ट भास्करलाटभास्कर, जयराम मधुमतीकार-रविभट्टाचार्य पद्मनाभ देवनाथ तर्कपाद आलोककार-यशोधर मणिसार रुचिमिश्र या रुचिकर-मिश्र महेश अच्युतभट्टाचार्य पाणिभट्टाचार्य मुरारिमिश्र एवं पक्षधरोपाध्याय इत्यादि कुछ अन्य प्राचीन टीकाकार हैं, जिनकी टीकाएँ आज भले ही उपलब्ध न हों, किन्तु प्राचीन टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में इनके मतों की चर्चा की है। वर्तमान शताब्दी में भी इस ग्रन्थ पर एक दर्जन से अधिक संस्कृत-हिन्दी या अंग्रेजी में टीकाएँ की गयी हैं, जो प्रकाशित हैं। इससे आचार्य मम्मट की प्रतिष्ठा का अनुमान लगाया जा सकता है।

मम्मट की रचनाएं—अब तक हमें आचार्य मम्मट की केवल दो रचनाएं ही प्राप्त हो सकी हैं। (१) काव्यप्रकाश एवं (२) शब्दव्यापारविचार। काव्यप्रकाश

संस्कृत काव्यशास्त्र के अध्येताओं के लिए सुविदित ग्रन्थ है। शब्दव्यापारविचार की चर्चा संस्कृतसाहित्य के इतिहास लेखक कृष्णमाचारियर एवं बालबोधिनीकार वामन झलकीकर ने की है कि यह ग्रन्थ ढाका एवं पूना के पुस्तकालय विशेष में सुरक्षित है। मुझे यह ग्रन्थ निर्णय सागर प्रेस बम्बई से मुद्रित अभिधावृत्तमातृका के परिशिष्ट में मुद्रित मेरे साहित्यविद्यागुरु डा० सत्यव्रत सिंह भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय एवं भूतपूर्व कुलपति संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अभिधा लक्षणा एवं व्यंजना का व्यवस्थित विवेचन हुआ है। अभिधा एवं लक्षणा विवेचन के प्रसंग में भाव ही नहीं शब्दावली भी प्रायः काव्यप्रकाश में किये गये एतद्विषयक विवेचन से अविकल मिलती है। विषयवस्तु एवं भाषा के साम्य को देखकर हमने भी काव्यप्रकाश के उन उन सन्दर्भों को यथास्थान संकलित कर दिया है, जिससे विवेचनशील अध्येताओं को मम्मट के विचारों को समझने में कोई असुविधा न हो। अतिशय शब्दसाम्य होते हुए भी दोनों में कौन प्रथम रचना है और कौन बाद की इसका निर्णय हमने पाठकों पर ही छोड़ना उचित समझा है। अधिक सम्भव है इस ग्रन्थ की रचना काव्य प्रकाश के बाद हुई हो। ग्रन्थान्त के शब्द भी इसकी ही पुष्टि करते है।[1] यह भी सम्भव यह है कि मम्मट ने किसी प्रसंग विशेष में काव्यप्रकाश से ही शब्दव्यापार विषयक विवेचन को पृथक संकलित करके यथावसर उसमें टिप्पणी का संयोजन करते हुए उदाहरणों के साथ पृथक् स्वरूप दे दिया हो। शब्दसाम्य के कारण यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि मम्मट ने स्वतन्त्र रूप से इसे ग्रन्थ का रूप न दिया हो। मम्मट ने स्वयं इसकी रचना स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भले ही न करनी चाही हो, किन्तु इसमें किञ्चित् मात्र सन्देह नहीं है कि इसमें कुछ सन्दर्भ ऐसे अवश्य आ गये हैं, जो काव्यप्रकाश में नहीं है अथवा जिनका केवल संकेतमात्र है। इस दृष्टि से निस्सन्देह यह लघु ग्रन्थ भी अवश्य पठनीय है।

●

---

१. एतच्चान्यत्र विस्तरेण विचारितम् श० व्या० वि० पृ० ३७

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी की कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियां

१.	भारतीय न्याय शास्त्र : एक अध्ययन	मूल्य
	(अनेक विश्वविद्यालयों में एम० ए० (संस्कृत) के लिए स्वीकृत)	२५-००
२.	कठोपनिषद् उपनिषत्प्रभाकर भाष्य	५-५०
३.	दर्पदलन (क्षेमेन्द्रकृत) हिन्दी अध्ययन एवं अनुवाद सहित	
	(नीतिशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ)	२०-००
४.	तत्त्वत्रय (लोकाचार्य कृत) अंग्रेजी हिन्दी अनुवाद सहित	
	(विशिष्टाद्वैत वेदान्त–विषयक लघु ग्रन्थ)	१०-००
५.	सुबोधालंकार (संघरक्खितकृत) संस्कृत हिन्दी अनुवाद सहित	
	(पालि भाषा का एकमात्र अलंकार ग्रन्थ)	१५-००
६.	स्वभाषालंकार (सियवसलकुर–शिलामेघसेनकृत) संस्कृत हिन्दी अनुवाद	
	(सिंहली भाषा का सप्तम शताब्दी में रचित अलंकार ग्रन्थ)	१५-००
७.	अभिधावृत्तमातृका (मुकुलभट्टकृत) हिन्दी व्याख्या सहित	१५-००
८.	शब्दव्यापारविचार (मम्मटकृत) हिन्दी व्याख्या सहित	१२-००
९.	वृत्तिवार्त्तिक (अप्पयदीक्षितकृत) हिन्दी व्याख्या सहित	
	(शब्द शक्ति विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ)	१५-००
१०.	त्रिवेणिका (आशाधरभट्ट कृत) हिन्दी व्याख्या सहित	
	(शब्दशक्तिविषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ)	१५-००
११.	कोविदानन्द (आशाधरभट्ट कृत) संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित	
	(शब्दशक्तिविषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ)	१५-००
१२.	तत्त्वविन्दु (वाचस्पतिमिश्रकृत) हिन्दी व्याख्या सहित	(प्रेस में)
	(शब्दशक्तिविषयक प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ)	
१३.	पातञ्जल योगशास्त्र : एक अध्ययन	(प्रेस में)
१४.	साहित्य दर्पण (परिच्छेद २, १०) लोचन और हिन्दी व्याख्या सहित	(प्रेस में)
	(समस्त काव्य तत्त्वों का ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक विवेचन करने वाली अपूर्व रचना)	
१५.	वृत्ति समुच्चय (शब्द शक्ति विषयक–समस्त	(प्रेस में)
	मौलिक सामग्री का अपूर्व संकलन (सम्भावित मूल्य)	१५०-००
१६.	महिमभट्टकृत काव्यदोष विवेचन : एक अध्ययन	(प्रेस में)
	(लखनऊ विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध प्रबन्ध)	

प्राप्ति स्थान :—

इन्दु प्रकाशन ८।३ रूप नगर, दिल्ली–७